पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला ४२

सम्पादक
डॉ० सागरमल जैन

जैनधर्म में श्रमणसंघ

—डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

H
294.806 P 916 J

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-

प्रधान सम्पादक
डॉ० सागरमल जैन

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला ४२

जैनधर्म में श्रमणसंघ

डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी
एम० ए०, जैन दर्शनाचार्य, प्राकृताचार्य, पी-एच०डो०
अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी–५

प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई० टी० आई० रोड,
वाराणसी-५
फोन : ६६७६२

●

संस्करण : प्रथम १९८७

●

मूल्य : रु० १०.००

●

JAINADHARMA ME ŚRAMAṆASAṄGHA
By Dr. Phool Chand Jain Premi
Price Rs. 10.00
First Edition 1987

Library IIAS, Shimla
H 294.806 P 916 J
00094576

●

मुद्रक :
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी

प्रकाशकीय

जैन धर्म निवृत्तिप्रधान धर्म है और इसलिए उसे व्यक्ति प्रधान धर्म माना जाता है क्योंकि वह समाज-जीवन की अपेक्षा वह वैयक्तिक साधना और आत्मकल्याण की बात करता है। यह विचार सत्य होते हुए भी एकरंगी अवश्य है और जैनधर्म में साधना की दृष्टि से संघ को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्वीकार किया गया है। संघ से बहिष्कृत साधक जैन धर्म में कभी भी आदर और प्रतिष्ठा का पात्र नहीं माना जाता है।

नन्दी सूत्र में महावीर की स्तुति के पश्चात् विस्तारपूर्वक संघ की स्तुति भी की गई है और संघ को नगर, चक्र, रथ, पद्म, चन्द्र, सूर्य, समुद्र, महामन्दर के विभिन्न गुणों से युक्त बताया गया है। उसमें कहा गया है कि जिस प्रकार परकोटे से सुरक्षित नगर अपने नगर निवासियों को सुरक्षा प्रदान करता है, उसी प्रकार संघ रूपी नगर अपने साधकों को चारित्रिक विचलनों से दूर रखता है।

जिस प्रकार चक्र शत्रुओं का उच्छेद करता है, उसी प्रकार संघचक्र साधना में बाधक दुर्गुणों का उच्छेद कर साधक को अलौकिक गुणों से युक्त करता है। पुनः जिसकी शीलरूपी पताकायें फहरा रही हों, जिसमें संयम और तप के अश्व जुटे हों और जिससे स्वाध्याय का मधुर घोष निकल रहा हो, ऐसे संघरूप रथ को कल्याणकारी कहा गया है।

संघ पद्म के समान विषय-वासनाओं से अलिप्त रहता है। वह संघस्थ साधक को भी दुर्गुणों से अलिप्त रखता है। उसे चन्द्र के समान शान्तिप्रदाता और सूर्य के समान भास्कर माना गया है।

इस प्रकार नन्दीसूत्र अत्यन्त विस्तार से जैनधर्म में संघ की क्या महत्ता, मूल्यवत्ता है और वह किस प्रकार व्यक्ति की साधना में सहयोगी बनता है, इसका विस्तृत विवेचन करता है। संघ का महत्व दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं के आगम ग्रन्थों में मिलता है। वस्तुतः संघ व्यवस्था जैनों में सामाजिक जीवन का आधार है।

आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ 'सम्बोधप्रकरण' में संघ कैसा होना चाहिए, इसका विस्तार से विवेचन किया है। दिगम्बर परम्परा में संघ व्यवस्था का प्रतिपादक प्रमुख ग्रन्थ मूलाचार है। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हैं।

डा० फूलचन्द जैन प्रेमी ने अपने शोध प्रबन्ध मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन में जैन श्रमण संघ पर भी विस्तार से विचार किया है। श्रमणाचार से सम्बन्धित विविध ग्रंथों की सामग्री के आधार पर इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है।

यद्यपि इस विवेचन का मूलाधार मूलाचार रहा है, किन्तु लेखक ने तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करते समय श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों यथा दशवैकालिक निर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति आदि का भी उपयोग किया है। यह ग्रंथ चाहे लघुकाय हो, किन्तु इसमें प्रस्तुत सामग्री निश्चय ही महत्वपूर्ण और मूल्यवान् है तथा जैन संघ और समाज व्यवस्था को समझाने में यही उपयोगी भी है। यद्यपि जैन आगमों में वर्णित समस्त व्यवस्था से सम्बन्धित कुछ अध्ययन हुए हैं किन्तु वे जैन साहित्य प्रतिबिम्बित समाज व्यवस्था का चित्रण करते हैं, जैनों की समाज व्यवस्था का नहीं। जैनों की समाज व्यवस्था का चित्रण तो हमें उनकी संघ-व्यवस्था में ही मिलता है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने उसी संघीय व्यवस्था का चित्रण किया है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से इस मान्यता का खण्डन हो जाता है कि जैन धर्म समाजगामी नहीं है। जैन समाज व्यवस्था के सन्दर्भ में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उसमें संयम की साधना और पाशविक वृत्तियों के नियन्त्रण की दृष्टि से अपनी समाज व्यवस्था प्रस्तुत की गई है।

डॉ० फूलचन्द प्रेमी ने अपने शोध के दौरान जैन श्रमण और आर्यिकाओं सम्बन्धी जिन तथ्यों का विवेचन किया है वे भावी अध्येताओं के लिए सहायक सिद्ध होंगे और उनके माध्यम से जैन संघ व्यवस्था कर सकने में सुविधा होगी। इस पुस्तक के प्रकाशन की बेला में हम लेखक के प्रति आभार व्यक्त करते हैं और अपेक्षा करते हैं कि भविष्य में भी वे इस प्रकार के शोधपूर्ण कार्य करते रहेंगे। हम इसके मुद्रण कार्य के लिए वर्द्धमान मुद्रणालय के भी आभारी हैं।

प्रो० सागरमल जैन
निदेशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी–२२१००५

विषय-सूची

१. श्रमण संघ : स्वरूप	१
२. संघ की महत्ता	२
३. संघ व्यवस्था के आधार	३
४. संघ के आधार	५
५. आचार्य	५
(क) आचार्य का स्वरूप	६
(ख) आचार्य के विशिष्ट गुण	८
(ग) आचारवत्त्व आदि आठ गुण	१०
(घ) आचार्य की गणि सम्पदायें	११
(ङ) उत्तराधिकारी आचार्य	१३
(च) उत्तराधिकारी की नियुक्ति विधि	१३
(छ) नवनियुक्त आचार्य को उद्‌बोधन	१४
(ज) गण, गच्छ कुल और इनके प्रमुख	१६
१. गण और उसके प्रमुख	१६
२. गच्छ और उसके प्रमुख	१७
३. कुल और उसके प्रमुख	१८
(झ) एलाचार्य	१९
(ञ) निर्यापकाचार्य	१९
६. उपाध्याय	२०
७. प्रवर्तक	२२
८. स्थविर	२२
९. गणधर	२३
१०. चातुर्वर्ण्य संघ	२४
(क) ऋषि, (ख) मुनि (ग) यति (घ) अनगार	२४–२६
११. अनगार भावना के दस सूत्र	२७
१२. अनगार के पर्यायवाची दस नाम	३२
१३. श्रमण	३२
(क) श्रमण जीवन में वैराग्य की महत्ता	३३
(ख) श्रमण के प्रकार	३५

१४. संयत ३६
१५. साधु ३६
१६. वीतराग, भदन्त, दान्त ३८
१७. भिक्षु ३९
१८. योगी ४०
१९. मुण्ड ४१
२०. निर्ग्रन्थ ४१
२१. निर्ग्रन्थ के भेद : १. पुलाक, २. बकुश, ३. कुशील, ४. निर्ग्रन्थ, ५. स्नातक ४१–४२
२२. आगन्तुक श्रमण : स्वरूप; उद्देश्य एवं विधि ४३
२३. परगणस्थ श्रमण एवं आचार्य के कर्त्तव्य ४६
२४. आगन्तुक श्रमण की परीक्षा ४७
२५. परगण में आगन्तुक श्रमण के कर्तव्य ४९
२६. पापश्रमण ५०
२७. पापश्रमण के पाँच भेद : १. पार्श्वस्थ, २. कुशील, ३. संसक्त, ४. अवसन्न, ५. मृगचरित्र ५२–५४
२८. कल्प-परिमंथु साधु ५४
२९. श्रमण के उपकरण ५६
(क) संयमोपकरण (पिच्छिका) ५७
(ख) शौचोपकरण (कमण्डलु) ६०
(ग) ज्ञानोपकरण ६१
(घ) अन्य उपकरण ६१
३०. श्रमण संघ : एक पुनरावलोकन ६२
३१. श्रमण संघ : परिवर्तन की दिशा ६३
१. संघ, २. गण, ३. गच्छ, ४. अन्वय ६४

आर्यिकाओं की आचार पद्धति

१. चतुर्विध संघ में आर्यिकाओं का स्थान ६५
२. उपचार से महाव्रत होने के कारण तद्भव मोक्ष नहीं ६६
३. आर्यिका के लिए प्रयुक्त शब्द ६९
४. आर्यिकाओं का वेष ६९
५. वसतिका ७२
६. समाचार : विहित एवं निषिद्ध ७३

७. आहारार्थ गमन विधि ७४
८. स्वाध्याय सम्बन्धी विधान ७५
९. वंदना-विनय सम्बन्धी व्यवहार ७५
१०. आर्यिका और श्रमण : परस्पर सम्बन्धों की मर्यादा ७६
११. आर्यिकाओं के गणधर ७९
१२. आर्यिका संघ ८०
१३. गणिनी (प्रधान) आर्यिका ८१
१४. बौद्ध भिक्षुणी संघ ८२

जैनधर्म में श्रमण संघ

जैन धर्म में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर तक चौबीस तीर्थंकरों की एक लम्बी परम्परा है। तीर्थंकरों के जीवन और उनके संघ के विषय में जानकारी हेतु जब उपलब्ध तद्विषयक साहित्य का अध्ययन करते हैं तो प्रत्येक तीर्थंकर के समय एक सुव्यवस्थित श्रमण संघ की झलक दिखलाई पड़ती है। भगवान् महावीर के सुसंगठित श्रमण संघ की सम्यक् परम्परा प्राचीनकाल से अविच्छिन्न रूप में चली आ रही है। आज भी इसी पथ पर श्रमणों एवं आर्यिकाओं का संयमपूर्ण जीवन साधना पथ पर गतिशील है।

स्वरूप :

गुण समूह को संघ कहते हैं, कर्मों के विमोचक को संघ कहा जाता है। दर्शन, ज्ञान और चरित्र में जो संघात (रत्नत्रय की समन्विति अथवा मेल) को प्राप्त है उसे संघ कहते हैं।[1] सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र रूप रत्नत्रय से युक्त श्रमणों के समुदाय को संघ कहते।[2] संघ को 'प्रवचन' शब्द से भी अभिहित किया जाता है। जिसमें रत्नत्रय का प्रवचन-उपदेश किया जाता है ऐसे मुनि-आर्यिका और श्रावक-श्राविका के समूह का नाम संघ है।[3] ये ही श्रमण संघ के चार अंग हैं। इसे ही चतुर्विध संघ कहते हैं तथा ऋषि, मुनि, यति और अनगार—इनका समुदाय चातुर्वर्ण्य संघ है।[4] इस प्रकार जो श्रम अर्थात् तपस्या

---

१. संघो गुण संघाओ संघो य विमोचिओ य कम्माणं।
दंसणणाणचरित्ते संघायंतो हवे संघो॥ भ० आ० ७१४.

२. (क) रत्नत्रयोपेत श्रमणगणः संघ—सर्वार्थसिद्धि ६।१३ पृ० ३३१.
(ख) सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रय भावनापराणां चतुर्विधानां श्रमणानां गणः सङ्घ इति कथ्यते—तत्त्वार्थवार्तिक ६।१३।३ पृ० ५२३.

३. प्रवचनं संघः। सर्व एव प्रोच्यते रत्नत्रयं यस्मिन्निति शब्दव्युत्पत्तौ संघवाची भवति प्रवचन शब्दः—भ० आ० विजयोदया टीका गाथा ४९३. पृ० ७१६.

४. (क) चादुव्वण्णस्स चातुर्वर्ण्यस्य श्रमणसंघस्य। अत्रश्रमणशब्देन श्रमणशब्दवाच्या ऋषिमुनियत्यनगारा ग्राहाः। अथवा श्रमणधर्मानुकूल श्रावकादिचतुर्वर्णसंघः। —प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति २४९.
(ख) ऋष्यार्यिका श्रावक श्रविकानिवहः संघः—भावपाहुड टीका ७८.

करते हैं वे श्रमण हैं तथा ऐसे श्रमणों के समुदाय को श्रमण संघ कहते हैं।[१] वस्तुतः गुणों का समूह रूप संघ समस्त प्राणियों को सुख देनेवाला, निकट भव्य जीवों का आधार तथा माता-पिता की तरह क्षमा प्रदान करने वाला होता है।[२]

सामान्यतः चातुर्वर्ण्य संघ चतुर्विध संघ का ही पर्यायवाची माना जाता है। ऋद्धि प्राप्त श्रमण ऋषि कहे जाते हैं। इनके चार भेद हैं—राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि। विक्रिया ऋद्धि और अक्षीण ऋद्धिधारी ऋषि राजर्षि कहे जाते हैं। बुद्धि, ऋद्धि और औषधि ऋद्धिधारी ब्रह्मर्षि हैं। गगन गमन ऋद्धि से सम्पन्न साधु देवर्षि तथा केवलज्ञानी भगवान् परमर्षि कहलाते हैं।[३]

संघ की महत्ता—'संघ' शब्द स्वयं अपने आप में एकता, सुव्यवस्था, सुसंगठन और शक्ति का द्योतक है। एकाकी जीवन का अपना विशेष महत्त्व नहीं होता बल्कि अनाचार की ओर प्रवृत्ति की सदा आशंका बनी रहती है। विशेषकर जिन्हें लौकिक आचार-विचार और व्यवहार से अलग, आत्म-कल्याण के लिए त्याग और संयममय जीवन इसी संसार में रहकर व्यतीत करना है, उन्हें तो संघ में रहकर ही अपने धर्म का निर्विघ्न पालन अनिवार्य हो जाता है। इन्हीं सब दृष्टियों से श्रमणों को एकाकी विहार का निषेध करके ससंघ रहने और विहार करने का विधान है। बृहत्कल्पभाष्य में संघस्थित श्रमण को ज्ञान का अधिकारी बताया है। वही दर्शन व चारित्र में विशेष रूप से स्थिर होता है।[४] वस्तुतः उपशम को ही श्रमण धर्म का सार कहा है। इस सांसारिकता के बीच एकल विहार युक्त जीवन में विशुद्धतापूर्वक अपने धर्म का निर्वाह कठिन है। क्योंकि श्रमण धर्म का आचरण करते हुए किसी प्रकार की कषायों की उत्कटता होती है तो ईख के पुष्प की तरह उसके व्रत-नियम सब निरर्थक हो जाते हैं।[५] अतः संघ में रहकर ज्ञान, ध्यान आदि द्वारा आत्मकल्याण रूप अपने लक्ष्य को प्राप्त करना श्रेयस्कर है।

शिवार्य ने ठीक ही कहा है कि जैसे आचार्य की धारणा से संघ की धारणा होती है वैसे ही एक साधु की धारणा से साधु समुदाय की धारणा होती है,

---

१. श्रमयन्ति तपस्यन्ति इति श्रमणाः तेषां समुदायः श्रमणसंघः—भ० आ० वि० टीका ५१० पृ० ७३०.

२. भ० आ० ७१३.

३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति गाथा २४९.

४. नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य—बृहत्कल्पभाष्य ५७१३.

५. बृहत्कल्पसूत्र १।३४, दशवै० निर्युक्ति ३०१.

क्योंकि साधु ही संघ है। साधुओं से भिन्न कोई संघ नाम की वस्तु नहीं है।[1] यहाँ धारणा का अर्थ है अपने धर्म-कर्म की शक्ति को भ्रष्ट करने वाले निमित्तों को दूर करके उसको शक्ति प्रदान करना। इसी को वैयावृत्त्य भी कहते हैं।

मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ अथवा ऋषि, मुनि, यति और अनगार रूप चातुर्वर्ण्य संघ चारों गतियों (नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव) में भ्रमण का नाशक हैं। अतः नवप्रसूता गाय जैसे अपने बछड़े पर वात्सल्य करती है वैसे ही प्रयत्न पूर्वक संघ पर वात्सल्य भाव रखना चाहिए।[2] क्योंकि संघ भयभीत जनों के लिए आश्वासन देता है। वह निश्छल व्यवहार के कारण विश्वासभूत, समता के कारण शीतगृहतुल्य, अविषमदर्शी होने के कारण माता-पिता तुल्य तथा सब प्राणियों के लिए शरणभूत होता है अतः संघ से डरना नहीं चाहिए।[3] नन्दिसूत्र के अनुसार संघ कमलवत् है, कर्मरज रूपी जलराशि से वह कमल की तरह ऊपर अलिप्त ही रहता है। श्रुतरत्न (ज्ञान या आगम) उसके दीर्घनाल, पंचमहाव्रत उसकी स्थिर कर्णिका तथा उत्तरगुण उसकी मध्यवर्ती केशर (पराग) है, जो श्रावक रूपी भ्रमरों से सदा घिरा रहता है, जिनदेव रूपी सूर्य के तेज से प्रबुद्ध होता है तथा जिसमें श्रमणगण रूपी सहस्र पत्र होते है।[4] मूलाचारकार ने गृहस्थ धर्म एवं श्रावक का भी अनेक प्रसंगों में उल्लेख किया है।[5]

संघ व्यवस्था के आधार

तीर्थंकर महावीर के श्रमण संघ की व्यवस्था गणतन्त्रीय पद्धति पर आधारित थी और यही परम्परा आज तक चली आ रही है। संघ-व्यवस्था का मूल लक्ष्य अहिंसा, स्वतंत्रता और सापेक्षता के आधार पर आत्म-कल्याण करना है। विशाल संघ के सुचारु संचालन हेतु संघ के कार्यों को विभाजित करके व्यवस्था करना आवश्यक होता है ताकि आत्मकल्याण के मार्ग में किसी को किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो। इसके लिए आचार्य आवश्यकतानुसार उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक, गणी, गणधर और गणावच्छेदक आदि पदों का सृजन और तदनुकूल योग्य श्रमणों को इन पर प्रतिष्ठित करता था।

---

१. साधुस्स धारणाए वि होइ तह चेव धारिओ संघो।
साधू चेव हि संघो ण हु संघो साहुवदिरित्तो ।। भ० आ० ३२६.

२. चादुव्वण्णे संघे चदुगदिसंसारणित्थरणभूदे।
वच्छल्लं कादव्वं वच्छेगावो जहा गिद्धी ।। मूलाचार ५।६६.

३. व्यवहार भाष्य ३२६.

४. नन्दिसूत्र स्थविरावली ७-८.

५. मूलाचार ७।३३, ३४, ३५.

चतुर्विध संघ में आर्यिका का द्वितीय स्थान है। श्रमणों और आर्यिकाओं—सभी का नेतृत्व करने वाला 'आचार्य' होता है। आचार्य ही श्रमण संघ का प्रमुख होता है। आत्म-कल्याण के इच्छुक योग्यजनों को वैराग्य, संयम आदि की दृढ़ता के आधार पर दीक्षित करना तथा संघ के सम्पूर्ण नेतृत्व एवं मार्ग-दर्शन प्रदान करना आचार्य का ही कार्य है। आचार्य ही योग्यताओं के आधार पर संघ के विभिन्न कार्य विभाजित करते हैं।

संघ में आचार्य के पश्चात् उपाध्याय का स्थान है। विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन आदि रूप ज्ञान के विकास का दायित्व 'उपाध्याय' पर होता है। संघ की विभिन्न इकाईयों में गण की व्यवस्था का कार्य 'प्रवर्तक' करते थे। धर्म प्रचार तथा संघ-विकास का कार्य 'गणावच्छेदक' करते थे। गण में दीक्षित साधुओं की भावना को गतिशील बनाना और आधृति उत्पन्न हो जाने पर पुनः धृति उत्पन्न करने का कार्य 'स्थविर' करता था। आर्यिका संघ का दायित्व प्रवर्तनी, गणिनी अथवा आर्यिका-प्रमुखा पर होता था। प्रवचनसार में कहा है[1] कि विशाल श्रमण संघ में दीक्षागुरु और निर्यापक दोनों पृथक्-पृथक् भी होते थे। श्रमण वेष धारण के समय जो प्रव्रज्या (दीक्षा) देते हैं वे 'दीक्षा गुरु' हैं तथा संयम के सर्वथा या एकदेश भङ्ग (छेद) होने पर प्रायश्चित्त देकर आगम के वैराग्यवर्धक वचनों द्वारा उन छेदों का निवारण करके पुनः निर्दोष संयम मार्ग में स्थापित करते हैं वे 'निर्यापक' कहलाते हैं। इन्हें ही उपस्थापक, शिक्षागुरु या श्रुतगुरु भी कहते हैं। इस तरह विशाल संघ में दीक्षा गुरु (आचार्य) के अतिरिक्त छेदोपस्थापक आचार्य भी होते थे। किन्तु छोटे श्रमणसंघ में एक ही आचार्य दोनों काम करते हैं।

गण, गच्छ, कुल रूप संघ की विभिन्न इकाईयों में गच्छ से तात्पर्य साथ-साथ रहने वाले श्रमणों के समूह से है। जितने श्रमण एक साथ रहकर विहार एवं चातुर्मास करते हैं उनके समूह को 'गच्छ' कहते हैं। विभिन्न गच्छ मिलकर 'कुल' का रूप धारण करते हैं। एक ही आचार्य के शिष्य-प्रशिष्यों के समूह को 'कुल' कहा जाता है। कुलों में एक ही प्रकार की आचार-विचार प्रणाली का अनुसरण करने से—ये सब मिलकर 'गण' का रूप धारण कर लेते हैं और गण का समूह संघ कहलाता है।

उपर्युक्त संघ व्यवस्था प्राचीन काल में तब प्रचलित थी जब संघ बहुत

---

१. लिंगग्गहणे तेसिं गुरुत्ति पव्वज्जदायगो होदि।
छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावणा समणा॥
—प्रवचनसार २१०. दोनों टीकाओं सहित

विशाल होते थे अतः बड़े संघों के सुचारु संचालन के लिए विभिन्न इकाईयों और पदों की आवश्यकता होती थी किन्तु अब उन विशाल संघों का अभाव होने से गण, गच्छ, कुल एवं इनके स्वरूप की परम्परा भी प्रायः कम है। फिर भी संघीय व्यवस्था के प्रमुख आधार आज भी वही हैं। इसके लिए षडावश्यकों का पालन, आहार, विहार, व्यवहार और तप आदि के विधान श्रमण संघ को दिनचर्या में सम्मिलित होने से उनको सामुदायिकता, स्वतंत्रता और आत्मोत्कर्ष की भावना का दिनों-दिन विकास होता रहता है। वस्तुतः जैन श्रमण संघ में संघीय नेतृत्व एवं गणतंत्रीय स्वरूप का जैसा सम्यक् विकास मिलता है वैसा अन्य परम्पराओं में दुर्लभ है।

संघ के आधार :

मूलाचार में कहा है कि आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर— ये संघ के पाँच आधार हैं। जहाँ ये आधार नहीं है वहाँ रहना उचित नहीं है।[१] क्योंकि सम्पूर्ण संघ का कुशल संचालन इन्हीं के आधार से होता है। शिष्यों को दीक्षा और अनुशासन रूप अनुग्रह करने में कुशल आचार्य होते हैं। धर्म के उपदेशक उपाध्याय कहलाते हैं जिनके पास आकर अध्ययन-अध्यापन का कार्य सम्पन्न होता है। संघ का प्रवर्तन करने वाले प्रवर्तक होते हैं। जिनसे आचरण स्थिर होते हैं ऐसे मर्यादा के उपदेशक को स्थविर तथा जो गण को धारण करते हैं अर्थात् गण के रक्षक को गणधर कहते हैं।[२] इन पाँच आधारों से ही संघ की परिपूर्णता एवं प्रतिष्ठा रहती है :—

संघ के इन पाँच आधारों का क्रमशः विवेचन प्रस्तुत है।

१. आचार्य :

श्रमण परम्परा में संघ नायक के रूप में आचार्य (आयरिय) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नमस्कार महामंत्र में आचार्य परमेष्ठी को 'णमो आयरियाणं' कहकर उनकी महनीयता और महत्ता प्रकाशित की गई, जो कि अप्रतिम गौरव का सूचक है। आचार्य पर ही ऋषि, मुनि, यति और अनगार रूप चातुर्वर्ण्य संघ अथवा मुनि, आर्यिका एवं श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ के संगठन, संवर्द्धन, अभिरक्षण, अनुशासन एवं उसके सर्वाङ्गीण विकास का सामूहिक एवं प्रमुख दायित्व होता है। वस्तुतः आचार्य दीपक के समान होता है। जैसे एक दीपक स्वयं दीप्त रहकर उससे सैकड़ों दीप प्रज्ज्वलित हो जाते हैं वैसे

---

१. तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा।
आइरियउवज्झाया पवत्तथेरा गणधरा य॥ मूलाचार ४।१५५.

२. सिस्साणुग्गहकुसलो धम्मुवदेसो य संघ वट्टवओ।
मज्जादुवदेसोवि य गणपरिरक्खो मुणेयव्वो॥ वही ४।१५६.

ही आचार्य स्वयं प्रकाशमान रहकर दूसरों को प्रकाशित करते हैं।[१] इसीलिए आचार्य को सम्पूर्ण संघ का 'नेत्र' भी कहते हैं।[२]

स्वरूप :

आचार्य का सीधा सम्बन्ध आचार से है इसीलिए शिवार्य ने कहा है कि जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य—इन पाँच आचारों का स्वयं निरतिचार पालन करता है और इनमें दूसरों को प्रवृत्त करता है वह आचार्य है।[३] मूलाचार में भी कहा गया है कि जो सर्वकाल सम्बन्धी आचार को जानता है तथा आचरण योग्य का स्वयं आचरण करता है और अन्य साधुओं को आचरण में प्रवृत्त करता है उसे आचार्य कहते हैं। क्योंकि जिस कारण आचार्य पाँच प्रकार के आचारों का स्वयं आचरण करते हुए सुशोभित होते हैं उसी प्रकार अपने द्वारा आचरित आचार दूसरों को दिखाते हुए सुशोभित होने के कारण उनका 'आचार्य' नाम सार्थक है।[४]

'आचार्य' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ करते हुए आचार्य वीरसेन ने षट्-खण्डागम की धवला टीका के आदिमंगल रूप नवकार मंत्र को व्याख्या में कहा है—'पञ्चविधमाचारं चरन्ति चारयन्तीत्याचार्याः।' अर्थात् जो पाँच आचारों का स्वयं पालन करते हैं और दूसरे साधुओं से पालन कराते हैं उन्हें 'आचार्य' कहते हैं।[५] अपराजितसूरि के अनुसार "पञ्चस्वाचारेषु ये वर्तन्ते पराश्च वर्तयन्ति ते आचार्याः। अर्थात् जो पाँच आचारों में स्वयं प्रवृत्त होता है और दूसरों को भी प्रवृत्त कराता है वे आचार्य हैं।[६] पूज्यपाद के अनुसार 'आचरन्ति तस्माद् व्रतानीत्याचार्यः—अर्थात् जिसके निमित्त से व्रतों का आचरण करते हैं वह आचार्य कहलाता है।[७] वसुनन्दि के अनुसार "आचर्यतेऽस्मादाचार्यः' अर्थात् जिनसे आचरण ग्रहण किया जाता है उन्हें आचार्य कहते हैं।[८]

---

१. जह दीवा दीवसयं पईप्पए सो उ दिप्पए दीवो।
दीव समा आयरिया अप्पं च परं च दीवंति॥
—आचारांग नियुंक्ति गाथा ८, चंदगविज्झं पइण्णयं गाथा ३०.

२. स एव भवसताणं चक्खुभूए वियाहिए—गच्छाचार पयन्ना अधि० १.

३. भ० आ० गाथा ४१८., देखें—आवश्यकनिर्युक्ति ९९४.

४. मूलाचार ७।८, ९.

५. धवला १।१, १, १, ४८।८.

६. भगवती आराधना विजयोदया टीका ४४४.

७. सर्वार्थसिद्धि ९।२४।४.

८. मूलाचार वृत्ति ४।१५५.

श्वेताम्बर परम्परा के अनेक व्याख्या ग्रन्थों में भी 'आचार्य' शब्द के व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ प्रस्तुत किये गये हैं। जिनदासगणि महत्तर ने आवश्यक चूर्णि में कहा है—'आङ मर्यादाभिविध्यो चरिर्गत्यर्थे, मर्यादया चरन्तीत्याचार्याः, आचारेण वा चरन्तीत्याचार्याः' आवश्यक सूत्र की मलयगिरि वृत्ति के अनुसार 'आचार्य' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'चर गति-भक्षणयोः आङ् पूर्व आचर्य्यंते कार्यार्थिभिः सेव्यते इत्याचार्यः ऋवर्ण व्यंजनाद्याणिति।[1]

भगवतीसूत्र के वृत्तिकार अभयदेवसूरि के अनुसार—"आ मर्यादया तद्-विषयविनयरूपया चर्य्यन्ते सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाकांक्षिभिरित्या-चार्याः अथवा आचारो ज्ञानाचारादिः पञ्चधा। 'आ' मर्यादया वा चारो विहारः, आचारस्तत्र साधवः स्वयं करणात्प्रभाषणात्प्रदर्शनाच्चेत्याचार्याः।[2] अर्थात् जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित आगम ज्ञान को हृदयंगमकर उसे आत्मसात् करने की उत्कण्ठा वाले शिष्यों द्वारा जो विनयादिपूर्ण मर्यादापूर्वक सेवित हों उन्हें आचार्य कहते हैं। यही आचार्य के लक्षणों में कहा है कि जो सूत्र और अर्थ—उभय के ज्ञाता हों, उत्कृष्ट कोटि के लक्षणों से युक्त हों, संघ के लिए मेढि अर्थात् आधारस्तम्भ के समान हों, जो अपने गण, गच्छ अथवा संघ को समस्त प्रकार के संतापों से पूर्णतः विमुक्त रखने में सक्षम हों तथा जो अपने शिष्यों को आगमों की गूढार्थ सहित वाचना देते हों, उन्हें आचार्य कहते हैं।[3]

आचार्य वीरसेन ने 'आचार्य' के लक्षण बतलाते हुए कहा है जो प्रवचन रूपी समुद्र-जल के मध्य स्नान करने से अर्थात् परमात्मा के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी है, जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं, जो मेरु के समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर हैं, सिंह के समान निर्भीक हैं, जो वर्य (श्रेष्ठ) हैं, देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं—ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं। ऐसे ही आचार्य संघ के संग्रह में कुशल, सूत्रार्थ में विशारद होते हैं, जिनकी कीर्ति सर्वत्र फैल रही है, जो सारण (आचरण), वारण (निषेध), और शोधन (व्रतों की शुद्धि) करने वाली क्रियाओं में निरन्तर उद्युक्त हैं, वे आचार्य परमेष्ठी कहलाते हैं।[4]

---

१. आवश्यकसूत्र मलयगिरि वृत्ति द्वितीय.

२. भगवती सूत्र वृत्ति १. १. १. मंगलाचरण।

३. सुत्तत्थविउलक्खण–जुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य।
गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ॥
—भगवतीसूत्र अभयदेवसूरि कृत वृत्ति १. १. १. मंगलाचरण में उद्धृत.

४. षट्खण्डागम धवला टीका १।११, १।२९-३०-३१ तथा ४९.

कल्पसूत्र टीका के अनुसार—जिनशासन के अर्थ का उपदेशक होने के कारण मोक्ष के अभिलाषी शिष्य विनयपूर्वक जिसकी सेवा करते हैं, वह सूत्रार्थ का दाता मुनिवर 'आचार्य' कहलाते हैं। सूत्र और अर्थ अथवा सूत्रों के अर्थ का ज्ञाता, प्रशस्त लक्षणों से युक्त, गच्छ के आधारभूत और गण की चिन्ता नहीं करने वाले आचार्य सूत्रार्थ का व्याख्यान करते हैं।[1]

दशवैकालिक चूर्णि में कहा है—सूत्र और अर्थ से सम्पन्न तथा अपने गुरु द्वारा जो गुरु पद पर स्थापित होता है वह आचार्य कहलाता है।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त स्वरूप के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आचार्य अनेक विशिष्ट गुणों से युक्त होते हैं। क्योंकि साधुओं की दीक्षा-शिक्षा के देने वाले, उनके दोषों का निवारण करके सद्गुणों में प्रवृत्त कराने वाले, अनेक गुण-विशिष्ट, संघ नायक साधु को ही आचार्य कहते हैं। वीतराग होने के कारण पंचपरमेष्ठी में उनका स्थान है और उनमें किञ्चित् देवत्व भी माना गया है।[3]

योग्य आचार्य से ही संघ की प्रतिष्ठा होती है तथा योग्य आचार्य के संघ में रहकर साधना और संयम द्वारा मुनि निर्विघ्नपूर्वक स्व-पर कल्याण के अपने लक्ष्य को पूर्ण करता है। योग्य आचार्य ही अपने कौशल से उन्मार्गगामी शिष्यों को शीघ्र ही सन्मार्ग पर लगा लेते हैं। अभयदेवसूरि ने कहा है कि "अविधि-पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले शिष्य को मार्ग पर लाने के लिए भी उपालम्भ देना चाहिए।[4] क्योंकि आचार्य संघ के नायक हैं जो निरन्तर सावधान हैं। उनके द्वारा बार-बार सन्मार्ग में लगाया गया वह आराधक साधु समुदायरूपी महावन को पार करता है। वह संघपति आचार्य अपने द्वारा भावना आदि में नियुक्त साधु समुदाय की इन्द्रिय रूपी चोरों से और कषायरूपी अनेक हिंसक जंगली जानवरों से रक्षा करता है।[5]

आचार्य के विशिष्ट गुण :

श्रमणत्व (साधुत्व) की दृष्टि से आचार्य, उपाध्याय, और साधु—सभी समान होते हैं और सामान्य रूप से मूलगुणों तथा उत्तरगुणों का पालन सभी को समान रूप से करना होता है किन्तु आचार्य संघ का प्रधान होता है अतः उसमें अनेक विशिष्ट गुण आवश्यक माने गये हैं। भगवती आराधना में कहा है आचार्य को

---

१. कल्पसूत्र कल्पमंजरी टीका पृष्ठ ४९.
२. दशवैकालिक (अगस्त्यसिंह) चूर्णि ९।३।१.
३. नियमसार तात्पर्यवृत्ति १४६. बोधपाहुड १।१.
४. ज्ञाताधर्मकथा विवरण १।१ पृष्ठ ७७.
५. भ० आ० १२८२-१२८७.

आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, प्रकुर्वीत (कर्ता), आयापाय-दर्शनोद्यत, (रत्नत्रय के लाभ और विनाश को दिखाने वाला), अवपीडक (उत्पीलक), अपरिस्रावी, निर्वापक, निर्यापक, प्रथितकीर्ति (प्रसिद्ध कीर्तिशाली) तथा निर्यापन—इन सभी गुणों से विशिष्ट होना चाहिए।[1]

वट्टकेर ने आचार्य को निम्नलिखित गुणों से युक्त माना है—संग्रह और अनुग्रह (शिक्षा देकर योग्य बनाने) में कुशल, सूत्रार्थ विशारद, प्रथित कीर्ति, क्रियाओं के आचरण में तत्पर, ग्रहण करने योग्य तथा उपादेय वचन बोलने वाला, गंभीर, दुर्धर्ष (प्रवादियों द्वारा परिभव-तिरस्कार नहीं किये जा सकने वाले), शूर, धर्म की प्रभावना करने वाला, क्षमागुण में पृथ्वी, सौम्यता में चन्द्रमा तथा निर्मलता में समुद्र के समान आचार्य होते हैं।[2]

मूलाचार में आचार्य के उपर्युक्त गुण बतलाये हैं किन्तु अन्यान्य ग्रन्थों में में उल्लिखित इन गुणों की निश्चित छत्तीस संख्या का स्पष्ट उल्लेख नहीं है जब कि इन सभी गुणों का प्रतिपादन प्रसंगानुसार मूलाचारकार ने किया अवश्य है। विभिन्न आचार्यों ने आचार्य के गुणों की संख्या 'छत्तीस' स्वीकार अवश्य की है किन्तु ये छत्तीस गुण कौन-कौन हैं—इनमें सभी आचार्य एक मत नहीं हैं। भगवती आराधना में आचार्य के छत्तीस गुणों का उल्लेख है—आचारवत्त्व आदि आठ गुण, दस स्थितिकल्प, बारह तप और छह आवश्यक।[3] अपराजितसूरि के अनुसार आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह तप, पाँच समिति तथा तीन गुप्ति—ये छत्तीस गुण हैं।[4] आशाधर ने अट्ठाईस मूलगुण तथा आचारवत्त्व आदि

---

१. आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुव्वीय।
आयावायविदंसी तहेव उप्पीलगो चेव॥
अपरिस्साई णिव्वावओ य णिज्जावओ पहिदकित्ती।
णिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ॥ भ० आ० ४१९, ४२०.

२. संगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती।
किरिआचरण सुजुत्तो गाहुय आदेज्जवयणो य॥
गंभीरो दुद्धरिसो सूरो धम्मप्पहावणासीलो।
खिदिससिसायरसरिसो कमेण तं सो दु सपत्तो॥ मूलाचार ४।१५८, १५९.

३. आयारवमादीया अट्ठगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो।
बारस तव छावासय छत्तीस गुणा मुणेयव्वा॥
भ० आ० ५२८, अन० धर्मा० ९।७६.

४. अष्टौ ज्ञानाचाराः दर्शनाचाराश्चाष्टौ, तपो द्वादशविधं, पंच समितयः, तिस्रो गुप्तयश्च षट्त्रिंशद्गुणाः।—भ० आ० विजयोदया टीका ५२८.

आठ गुण—ये छत्तीस गुण अथवा दस आलोचना गुण, दस प्रायश्चित्त गुण, दस स्थिति गुण और छह जीत गुण—इस प्रकार छत्तीस गुणों का उल्लेख किया है।[1]

आचारवत्त्व आदि आठ गुण :

१. **आचारवत्त्व**—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य—इन पाँच प्रकार के आचारों का स्वयं पालन करना और दूसरों से पालन करवाना।

२. **आधारवत्व**—श्रुत (आगम) का असाधारण ज्ञान।

३. **व्यवहारपटु**—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत—इन पाँच प्रकार के व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त को तत्त्वरूप से विस्तार के साथ जानता है तथा जिनने अनेक आचार्यों को प्रायश्चित्त देते देखा है और स्वयं दूसरों को प्रायश्चित्त दिया है वे आचार्य व्यवहारवान् हैं।[2]

४. **प्रकुर्वित्व (पकुव्वओ)**—समाधिमरण कराने और ऐसे श्रमणों की पूर्ण सजगता से वैयावृत्य करने एवं कराने में कुशल।

५. **आयापायदेष्टा**—सरलभावों से आलोचना करने वाले क्षपक के गुणों तथा दोषों को बतलाने में कुशल।

६. **उत्पीलक (अवव्रीडक)**—छिपाये गये (गुह्य) अतिचारों को भी प्रगट कराने में समर्थ।

७. **अपरिस्रावी**—श्रमणों द्वारा आलोचित गोप्यदोष को दूसरों पर प्रकाशित न करके पानी के घूँट की तरह पीने वाले।

८. **सुखावह**—श्रमणों को समाधिमरण के समय क्षुधादि दुःखों से घबड़ाकर विमुख न होने देने के लिए उत्तम कथाओं द्वारा उन दुःखों का उपशमन करने वाले।[3]

श्वेताम्बर परम्परा के व्यवहारभाष्य में प्रायश्चित्तों के वर्णन प्रसंग में आलोचनार्ह की विशेषतायें बतलाते हुए कहा है कि आलोचनार्ह निरपलापी होता है और इन आठ विशेषणों से युक्त होता है जो पूर्वोक्त आचार्य के आठ गुणों के समान हैं। यथा--आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, अपव्रीडक, प्रकुर्वी, निर्यापक, अपायदर्शी और अपरिस्रावी।[4]

---

१. भ० आ० मूलाराधना टीका ५२८.
२. भ० आ० ४५१.
३. अनगारधर्मामृत ९।७६-७७.
४. व्यवहारभाष्य गाथा ३३६-३४०.

उपर्युक्त आठ गुणों के अतिरिक्त आचेलक्य, औद्देशिक का त्याग, शय्या-गृह त्याग, राजपिण्ड का त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मासस्थिति और पर्युषण--ये दस स्थितिकल्प। बारह तप और छह आवश्यकों का विवेचन पहले ही किया जा चुका है। इस तरह आचार्य के छत्तीस गुण प्रतिपादित हैं।

आचार्य की गणि सम्पदायें :

स्थानांग में आचार्य को आठ प्रकार की गणि सम्पदाओं से युक्त बतलाया गया है--१. आचार सम्पदा, २. श्रुत सम्पदा, ३. शरीर सम्पदा, ४. वचन सम्पदा, ५. वाचना सम्पदा- ६. मति सम्पदा, ७. प्रयोग सम्पदा (वाद कौशल) और ८. संग्रह परिज्ञा (संघ व्यवस्था में निपुणता।[1] इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेदों सहित प्रतिपादन किया गया है।[2]

१. आचार संपदा--इसके अन्तर्गत १. संयमध्रुवयोगयुक्तता—अर्थात् चारित्र में सदा समाधियुक्त होना। २. असंप्रग्रह—जाति, श्रुत आदि मदों का परिहार। ३. अनियतवृत्ति, ४. वृद्धशीलता—शरीर और मन की निर्विकारता, अचंचलता।

२. श्रुत संपदा--इसके अन्तर्गत—१. बहुश्रुतता, २. परिचितसूत्रता, ३. विचित्रसूत्रता—स्व और पर दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में निपुणता अथवा उत्सर्ग और अपवाद को जाननेवाला, ४. घोषविशुद्धिकर्ता—अपने शिष्यों को सूत्र उच्चारण का स्पष्ट अभ्यास कराने में समर्थता।

३. शरीर सम्पदा—१. आरोहपरिणाहयुक्तता—आरोह = ऊँचाई, परिणाह = विशालता अर्थात् शरीर का उचित ऊँचाई और विशालता से सम्पन्न होना। २. अनवत्रपता—अलज्जनीय अंगवाला होना। ३. परिपूर्ण इन्द्रियता, ४. स्थिरसंहननता।

४. वचन सम्पदा—१. आदेय वचनता—जिसके वचनों को सभी स्वीकार करते हों। २. मधुरवचनता—३. अनिश्रितवचनता—मध्यस्थवचन, ४. असंदिग्ध-वचनता।

---

१. अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता तं जहा—आचारसंपया, सुयसंपया, सरीर-संपया, वयणसंपया, वायणासंपया, मतिसंपया, पओगसंपया, संगहपरिण्णा णाम अट्ठमा—स्थानांग सूत्र ८।१५.

२. (क) दशाश्रुतस्कंध दशा ४.
(ख) स्थानांगवृत्ति पत्र ४०१. (ठाणं ८।१५ की टिप्पण पृ० ८२७-८२९ प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूं वि० सं० २०३३ से उद्धृत)

५. **वाचना सम्पदा**—१. विदित्वोद्देशन—शिष्य की योग्यता को जानकर उद्देशन करना। २. विदित्वा समुद्देशन—शिष्य की योग्यता जानकर समुद्देशन करना। ३. परिनिर्वाप्यवाचना—पहले दी गई वाचना को पूर्ण हृदयंगम कराके आगे की वाचना देना। ४. अर्थ निर्यापणा—अर्थ के पौर्यापर्य का बोध कराना।

६. **मति सम्पदा**—(बुद्धि-कौशल)—१. अवग्रह, २. ईहा, ३ अवाय, ४. धारणा—ये चार मति सम्पदायें हैं।

७. **प्रयोग सम्पदा (वाद-कौशल)**—१. आत्मपरिज्ञान—वाद या धर्मकथा में अपने सामर्थ्य का परिज्ञान, २. पुरुष परिज्ञान—वादी के मत का ज्ञान, परिषद् का ज्ञान। ३. क्षेत्र परिज्ञान—वाद करने के क्षेत्र का ज्ञान। ४. वस्तु परिज्ञान—वाद-काल में निर्णायक के रूप में स्वीकृत सभापति आदि का ज्ञान।

८. **संग्रह-परिज्ञा**—(संघ व्यवस्था में निपुणता)—

१. बालादियोग्यक्षेत्र—व्यवहारभाष्य में इसके स्थान पर 'बहुजनयोग्य क्षेत्र' शब्द दिया है।[1] तथा इसके दो अर्थ किये हैं। १—वर्षा ऋतु के लिए सम्पूर्ण संघ के योग्य विस्तीर्ण क्षेत्र का निर्वाचन करने वाला। २—जो क्षेत्र, बालक, दुर्बल, ग्लानतथा प्राघूर्णकों के लिए उपयुक्त हो।

२. पीठ-फलग संप्राप्ति—पीठ-फलग-चौकी आदि की उपलब्धि करना।

३. कालसमानयन—यथासमय स्वाध्याय, भिक्षा आदि की व्यवस्था।

४. गुरुपूजा—यथोचित विनय की व्यवस्था बनाए रखना।

इस प्रकार उपर्युक्त आठ गणि सम्पदाओं के बत्तीस भेदों का विवेचन आगमों में मिलता है। इनके अतिरिक्त आगम व्यवहारी की चार "विनय प्रतिपत्तियों" का भी उल्लेख मिलता है जो इस प्रकार हैं।[2]

१. आचारविनय—आचार विषयक विनय सिखाना।

२. श्रुतविनय—सूत्र और अर्थ की वाचना देना।

३. विक्षेपणा विनय—जो धर्म से दूर हैं, उन्हें धर्म में स्थापित करना, जो स्थित हैं उन्हें प्रव्रजित करना, जो च्युतधर्मा हैं, उन्हें पुनः धर्मनिष्ठ बनाना और उनके लिए हित सम्पादन करना।

४. दोषनिर्घात विनय—क्रोध-दोष-कांक्षा-विनयन के लिए प्रयत्न करना।

---

१. व्यवहार सूत्र उद्देशक १०, भाष्यगाथा २९०.

२. व्यवहारसूत्र उद्देशक १० भाष्यगाथा ३०३, ३०५-३२७. (ठाणं ५।१२४ की टिप्पण पृ० ६३० के आधार पर)

उत्तराधिकारी आचार्य

आचार्य अपने संघ का नायक होता है। जब वह यह अनुभव करने लगता है कि इस आयुष्य का कोई भरोसा नहीं और संघ का विकास नेतृत्व के वैशिष्ट्य पर आधारित है अतः अपने पद का सुयोग्यतम उत्तराधिकारी आवश्यक है। जिसे संघ का दायित्व उस उत्तराधिकारी को सौंपकर निःशल्य रूप में आत्मसाधना में लीन हो सकें। आचार्य के उत्तराधिकारी को बालाचार्य, युवाचार्य आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा के व्यवहार सूत्र में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने की योग्यताओं के विषय में कहा है कि जो कम से कम पाँच वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला, श्रमणाचार में कुशल, प्रवचन में प्रवीण, प्रज्ञाबुद्धि में निष्णात, आहारादि के उपग्रह में कुशल, अखण्डाचारी, सबल दोषों से रहित, भिन्नतारहित आचार का पालन करने वाले, निःकषाय चारित्र वाले, अनेक सूत्रों और आगमों आदि में पारंगत श्रमण, आचार्य अथवा उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित होने के योग्य हैं।[१]

ऐसा भी उल्लेख है कि जब आचार्य रोग आदि की गिल्यता को प्राप्त हो जाये तो अपने शिष्यों को बुलाकर कहते थे कि मेरा आयुष्य पूर्ण होने के बाद इन योग्यताओं वाले अमुक श्रमण को इस पद पर प्रतिष्ठित करना। यदि वह इस पद के योग्य परीक्षा में असफल रहे तो दूसरे को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करना।[२] आचार्य द्वारा निर्दिष्ट साधु को उस समय पदवी के योग्य होने की अवस्था में ही पदवी प्रदान करना चाहिए, अयोग्यता की अवस्था में नहीं। कदाचित् उसे पदवी प्रदान कर दी गई हो किन्तु उसमें आवश्यक योग्यता न हो तो अन्य साधुओं को उससे कहना चाहिए कि तुम इस पदवी के अयोग्य हो अतः इसे छोड़ दो। ऐसी अवस्था में यदि वह पदवी छोड़ देता है तो उसे किसी प्रकार का दोष नहीं लगता है।[३]

उत्तराधिकारी की नियुक्ति विधि : भगवती आराधना में उत्तराधिकारी आचार्य की नियुक्ति के सन्दर्भ में कहा है[४] कि सल्लेखना करने के इच्छुक गणस्थ आचार्य को गण (संघ) का हित सोचना चाहिए। इस कारण आचार्य को अपनी आयु की स्थिति-विचारकर सम्पूर्ण संघ को और बालाचार्य को बुलाकर शुभ दिन,

---

१. व्यवहारसूत्र ३।५.

२. व्यवहारसूत्र ४।१३.

३. व्यवहार भाष्य चतुर्थ उद्देश्य (जै० सा० का बृ० इतिहास भाग ३ पृ० २६३).

४. भगवती आराधना गाथा २७४ से ३५८ (विजयोदयाटीका सहित)

शुभ करण, शुभ नक्षत्र और शुभलग्न तथा शुभ देश में, गच्छ का पालन करने योग्य गुणों से विभूषित अपने समान भिक्षु का विचार करने के पश्चात् वह धीर आचार्य 'अल्पकथा' अर्थात् इस विषय में अल्प वक्तव्य रूप उपदेश देकर उस बालाचार्य के लिए अपना गण विसर्जित करते (सौंपते) हैं। अर्थात् अपना पद छोड़कर सम्पूर्ण गण को बालाचार्य के लिए छोड़ देते हैं। और इस तरह बालाचार्य ही यहाँ से उस गण का आचार्य समझा जाता है।

आचार्य समस्त अर्थात् चतुर्विध संघ से कहते हैं कि ज्ञान-दर्शन और चारित्रात्मक धर्मतीर्थ की व्युच्छित्ति न हो अतः सब गुणों से युक्त जानकर इसे मैंने अपना उत्तराधिकारी बनाया है। अब यह तुम्हारा आचार्य है। आप सब इस गण का पालन करें। इतना कहकर उस बालाचार्य को अनुज्ञा करते हैं। वे अपने द्वारा स्वीकृत उस आचार्य को संघ के मध्य में स्थापित करके तथा स्वयं अलग होकर बाल और वृद्ध मुनियों से भरे उस गण से मन, वचन और काय पूर्वक क्षमा याचना करते हैं। वे कहते हैं दीर्घकाल तक साथ रहने से उत्पन्न हुए ममता, स्नेह, द्वेष और राग वश जो कटु और कठिन (कड़े) वचन कहे गये हों उन सबके प्रति मैं क्षमा याचना करता हूं। समस्त संघ भी वन्दना करके, पंचांग नमस्कार पूर्वक संसार के दुःखों से रक्षा करने वाले, सबको प्रिय, उत्तम क्षमादि दस धर्मों में स्वयं प्रवृत्त और दूसरों को प्रवृत्त कराने वाले आचार्य से मन, वचन और काय पूर्वक क्षमा याचना करता है।

इसके बाद वे आचार्य पद से अन्तिम रूप में अनेक प्रकार की अच्छी शिक्षा रूप उपदेश चतुर्विध संघ के समक्ष प्रदान करते हुए कहते हैं कि जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे गये सूत्र आदि अर्थ में जो निपुण है, जिसने प्रायश्चित्त शास्त्र सुना है वह आचार्य अपने प्रयोजन की चिन्ता करते हुए भी जिन भगवान् की आज्ञा से गण की चिन्ता करता है। क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति में स्थित सभी श्रमणों और गृहस्थों को मुक्ति के मार्ग में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को बढ़ाने वाला विहार तथा उत्तरोत्तर उन्नत अनुष्ठान करना चाहिए। इस प्रकार शुभ तिथि आदि से युक्त काल और देश में गणाधिपति आचार्य और गण को भी स्नेह सहित, माधुर्य युक्त, सारवान होने से गम्भीर, सुख से समझ में आने वाली चित्त को आनन्द दायक और हितकारी शिक्षा देते हैं।

नवनियुक्त आचार्य को उद्बोधन : शिक्षा देने के बाद वे आचार्य नव नियुक्त उत्तराधिकारी आचार्य को आशीर्वाद देते हैं और मार्मिक रूप में कर्त्तव्य बोध कराते हुए कहते हैं कि "उत्पत्ति स्थान में छोटी सी भी उत्तम नदी जैसे विस्तार के साथ बढ़ती हुई समुद्र तक जाती है उसी प्रकार तुम

शील और गुणों में सदा वृद्धि को प्राप्त होते रहो। तुम मार्जार अर्थात् विलाव के शब्द की तरह आचरण मत करना। क्योंकि विलाव का शब्द पहले जोर का होता है, फिर क्रम से मन्द हो जाता है। उसी प्रकार रत्नत्रय की भावना को पहले बड़े उत्साह से करके पीछे धीरे-धीरे मन्द मत करना। और इस तरह अपना और अपने संघ--इन दोनों का विनाश मत करना। प्रारम्भ में ही कठोर तप की भावना में लगकर आप और गण को भी उसी में लगाकर दुश्चर होने से विनाश को प्राप्त होंगे। क्योंकि जो जलते हुए अपने घर को भी आलस्यवश बचाना नहीं चाहता, उस पर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि वह दूसरे के जलते हुए घर को बचायेगा। अतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र विषयक अतिचारों को दूर करो। धार्मिकों और मिथ्यादृष्टियों के साथ विरोध नहीं करना चाहिए। चित्त की शान्ति भंग करने वाला वाद-विवाद भी नहीं करना चाहिए। क्रोधादि कषायें अपनी और दूसरे की मृत्यु में कारण होती है अतः ये विषरूप हैं और हृदय को जलाने के कारण वे आग की तरह हैं अतः उन्हें छोड़ना चाहिए।

आचार्य समझाते हुए आगे कहते हैं आगम के सारभूत रत्नत्रय में जो गण को और अपने को स्थापित करता है वही गणधर (आचार्य) कहलाता है। मेरे अधीन बहुत मुनि हैं अतः अपने आप में गणी होने का घमण्ड मत करना। जो उद्गम आदि दोषों से युक्त आहार, उपकरण अथवा वसति को स्वीकार करता है उसके न तो प्राणिसंयम है और न इन्द्रियसंयम। अतः वह न तो यति है और न गणधर।

हमारा यह आचार्य (गुरु) आलोचित दोषों को दूसरे से नहीं कहता—ऐसा मानकर शिष्यों के द्वारा प्रकट किये अपराधों को किसी अन्य से मत कहो। कार्यों में समदर्शी ही रहो। और **बाल तथा वृद्ध यतियों से भरे गण की अपनी आँख की तरह रक्षा करो।** जिस क्षेत्र में कोई राजा न हो अथवा वह दुष्ट हो उस क्षेत्र को त्याग दो, जिस क्षेत्र में प्रव्रज्या न हो अथवा संयम का घात हो उस क्षेत्र को त्याग दो। दुःसह परीषहों से और तीक्ष्ण आक्रोशवचन रूपी काँटों से पराभूत होकर भी धर्म की धुरा के भार को मत त्यागो। बाल और वृद्ध मुनियों से भरे हुए गण में सर्वज्ञ की आज्ञा से सदा अपनी शक्ति और भक्ति से वैयावृत्य करने में तत्पर रहो। क्योंकि सर्वज्ञदेव की आज्ञा है कि वैयावृत्य करना चाहिए। जैसे आचार्य की धारणा से संघ की धारणा होती है वैसे ही एक साधु की धारणा से अर्थात् वैयावृत्य करने से साधु समुदाय की धारणा होती है।

वृद्ध, अनशन आदि तप में तत्पर तपस्वी, बहुश्रुत और प्रमाण माना जाने वाला भी साधु आर्या स्त्री के संसर्ग से लोकापवाद का भागी होता है। अतः जो इनका ही नहीं अपितु बाला, कन्या, तरुणी, वृद्धा, सुरूप और कुरूप सभी प्रकार

के स्त्रीवर्ग में प्रमाद रहित होता है वही साधु ब्रह्मचर्य को जीवन पर्यन्त पार लगाता है।

इस प्रकार अच्छे-बुरे आश्रय के कारण पुरुष गुण-दोष को प्राप्त होता है अतः प्रशस्तगुण युक्त आधार (आश्रय) ही अपनाना चाहिए।

गण, गच्छ, कुल और इनके प्रमुख

मूलाचारकार ने जहाँ आचार्य के अनेक विशिष्ट गुणों का वर्णन किया है वहाँ संघ की विशेषताओं का भी काफी अच्छा प्रतिपादन किया है। साथ ही गण, गच्छ और कुल का भी उल्लेख किया है। इन उल्लेखों से यह भी अवश्य स्पष्ट होता है कि वट्टकेर तथा वसुनन्दि की दृष्टि में संघ, गण, गच्छ और आदि में अन्तर स्पष्ट नहीं था। इस तरह के अन्तर का इन्होंने उल्लेख भी नहीं किया। किन्तु वट्टकेर कषाय के वशीभूत होकर संघ को तोड़ने वाली तथा एकाकी विहार आदि की प्रवृत्तियों के घोर विरोधी थे। इसीलिए उन्होंने आचार्य के सानिध्य में संघ में ही रहकर आत्म कल्याण करने के लिए पदे-पदे प्रेरित किया है। कुछ शिथिलाचारी साधु कषाय के वशीभूत होकर अन्त समय में संघ छोड़कर गण में प्रविष्ट हो जाते थे उनके विषय में क्षोभ व्यक्त करते हुए वट्टकेर ने कहा है कि गण में प्रवेश की अपेक्षा विवाह कर लेना अच्छा है क्योंकि विवाह से तो राग की ही उत्पत्ति होती है किन्तु गण तो अनेक दोषों की खान (उत्पत्ति स्थान) है।[1] फिर भी संघ की इकाई की दृष्टि से यदि गण, गच्छ आदि अपने स्वरूप और उद्देश्य के अनुसार कार्य करते हैं तो इनकी अपनी महत्ता है। क्रमशः इनका विवेचन इस प्रकार है—

गण और उसके प्रमुख—तीन पुरुषों के समुदाय[2] अथवा स्थविर-मर्यादा के उपदेशक या श्रुत में वृद्ध श्रमणों (स्थविरों) की सन्तति (परम्परा) या उनके समूह को गण कहते हैं।[3] कुल के समुदाय अथवा जिसमें तीन कुल के समुदाय शामिल हों वह गण है। गण में सम्मिलित होने के लिए श्रमण को अटूट श्रद्धा, मेधा, नम्रता, अपरिग्रह एवं बहुश्रुत आदि गुणों से युक्त होना अपेक्षित है।[4] गण

---

१. वरं गणपवेसादो विवाहस्स पवेसणं।
विवाहे राग उप्पत्ति गणो दोसाणमागरो॥ मूलाचार १०।९२.

२. धवला १३।५, ४, २६।६३।८, त्रैपुरुषिको गणः—मूलाचार वृत्ति ४।१५३.

३. सर्वार्थसिद्धि ९।२४, पृ० ४४२, तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक ९।२४, भाव पाहुड टीका ७८.

४. स्थानांगसूत्र पृ० ३५३.

के प्रमुख को गणाचार्य, गणी या गणधर कहते हैं । आचारांग की शीलांगवृत्ति में कहा है—जो आचार्य नहीं किन्तु बुद्धि से आचार्य के सदृश हों एवं गुरु की आज्ञा से साधु-समूह (श्रमण-गण) को लेकर पृथक् विहार करते हों वे गणधर कहलाते हैं ।[१] श्रुत ज्ञानावरण के प्रकृष्ट क्षयोपशम के निमित्त से गण के धारण करने में समर्थ होना गणधरत्व है ।[२]

श्वेताम्बर परम्परा के व्यवहार भाष्य में कहा है जैसे गाड़ी के धुरे के बिना चक्र नहीं चलता, वैसे ही गणाचार्य के बिना गण नहीं चलता ।[३] कल्पसूत्र टीका में कहा है—जो सूत्रार्थ का पूर्ण ज्ञाता हो, प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, व्यवहार-कुशल, जाति और कुल से सम्पन्न, गम्भीर, लब्धिमान्, उपदेशादि द्वारा शिष्यादिकों के संग्रह में तथा उपसंग्रह—से अनुग्रह करने में तत्पर हो तथा साध्वाचार में कुशल और विशिष्ट तप करने वाला और जिन-शासनानुरागी को गणी कहा जाता है ।[४] गच्छाचार पइन्ना में कहा है ज्ञान, दर्शन, और चारित्र इन तीनों में सम्पन्न, समयसारों में प्रेरक जो अपने को गण में प्रतिष्ठित करता है वह गणी (गणाचार्य)[५] है । इस प्रकार विशाल संघ से आचार्य की आज्ञानुसार निर्धारित श्रमणों के साथ अपने सम्यक् उद्देश्य की पूर्ति हेतु अलग विचरण करें वह श्रमणों का समूह गण है तथा उसके प्रमुख गणी या गणाचार्य हैं ।

गच्छ और उसके प्रमुख

वट्टकेर ने वैयावृत्य के प्रसंग में गच्छ का उल्लेख करते हुए आगन्तुक श्रमण द्वारा गच्छ में रहने वाले गुरु, बाल, वृद्ध, क्षीण शक्तिक और शैक्ष मुनियों की अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्नपूर्वक वैयावृत्ति करने को कहा है ।[६] वसुनन्दि ने ऋषियों के समूह (ऋषिकुल) को[७] अथवा चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ को 'गच्छ' कहा

---

१. नो आयरिओ पुण जो, तारिसओ चेव होइ बुद्धीए ।
साहुगणं गहिऊणं, वियरइ सो गणहरो होइ ।।
आचाराङ्ग शीलांगवृत्ति २, १, १०, २७९ पृ० ३२२.

२. तत्त्वार्थ वार्तिक ८।१२।४१.

३. प्राकृत साहित्य का इतिहास पृ० २१८ से उद्धृत.

४. कल्पसूत्र : कल्पमञ्जरी टीका १-२, पृष्ठ ५४.

५. गच्छाचार पइन्ना ७।२०.

६. गच्छे वेज्जावच्चं गिलाणगुरु बालबुड्ढसेहाणं ।
जहजोगं कादव्वं सगसत्तीए पयत्तेण ।। मूलाचार ४।१७४.

७. गच्छ ऋषिकुलं—मूलाचार वृत्ति ४।१८५.

है अथवा सात पुरुषों या तीन पुरुषों के समुदाय को 'गच्छ' कहा है।[1] मुख्यतः सात पुरुषों के समूह को गच्छ कहा जाता है।[2] धवला के अनुसार तीन पुरुषों का समुदाय गण है इसके ऊपर अर्थात् तीन से ज्यादा पुरुष का समूह गच्छ कहलाता है।[3] जिस गच्छ में ज्ञान, दर्शन, और चारित्र की वृद्धि होती रहती है वही गच्छ उन्नत और धर्म ऋद्धि से महान् ऋद्धिशाली कहा जाता है वही गच्छ रत्न उत्पन्न करने वाले रत्नाकर के सदृश है, जिसमें रत्नत्रय उत्पन्न होते है, मात्र संख्या बढ़ाने से नहीं।[4] किन्तु जो गौरव से सहित आहार में लम्पट, मायाचारी, आलसी, लोभी तथा धर्म रहित है ऐसा शिथिल मुनि गच्छ में रहते हुए भी साधु समूह को नहीं चाहता। और जो प्रियधर्म, दृढ़धर्म आदि रूप विशिष्ट गुणों से रहित है वह आचार्य यदि आर्यिकाओं का आचार्यत्व करता है तो उसके चार काल (दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषण और आत्मसंस्कार रूप चार काल) विराधित होते हैं और गच्छ की विराधना हो जाती है।[5] अतः गच्छ के प्रमुख को सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिए। गच्छ के प्रमुख गच्छाचार्य कहलाते हैं। इनका कार्य गच्छ के आचार को रक्षा करते हुए स्वयं श्रेष्ठ आचार का पालन करना है। किन्तु जो आचार्य मुँह से मीठा बोलता हुआ गच्छ के आचार की रक्षा नहीं करता वह गच्छ का अपकारी होता है। और जो मात्र मीठा ही न बोलकर समय आने पर ताड़ना के द्वारा भी गच्छ के आचार की रक्षा करता है वह कल्याणरूप आनन्द का देने वाला है।[6]

मूलाचार और इसकी वृत्ति में उल्लिखित 'गच्छ' के अध्ययन से ज्ञात होता संघ, गण और गच्छ में अन्तर स्पष्ट नहीं है।

कुल और उसके प्रमुख—एक ही आचार्य की शिष्य सन्तति (परम्परा) का नाम कुल है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य-परम्परा को कुल कहते हैं।[7] प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में कहा है कि लौकिक

---

१. ऋषि समुदाये चातुर्वर्ण्य श्रमण संघे वा सप्तपुरुषकस्त्रिपुरुषको वा गच्छः
—मूलाचारवृत्ति ४।१७४.

२. साप्तपुरुषिको गच्छः—मूलाचार वृत्ति ४।१५३.

३, तिपुरिसओ गणो। तदुवरि गच्छो। धवला १३।५, ४, २६।६३।८।
—मूलाचार वृत्ति ४।१५३

४. बृहत्कल्पभाष्य २११०-२१२२.

५. मूलाचार ४।१५३, १८५.

६. गच्छाचार पइन्ना–१७.

७. सर्वार्थसिद्धि ९।२४, पृ० ४४२.

दोषों से रहित जो जिनदीक्षा के योग्य होता है वह कुल है ।[१] स्थानांग टीका के अनुसार कई गच्छों के समूह से कुल का निर्माण होता है ।[२] कुल का एक प्रमुख होता है । मूलाचार में कहा है कि जब कोई श्रमण अन्य आचार्य के पास विशेष अध्ययन आदि के लिए जाता तो वे आचार्य इस नवागन्तुक श्रमण के परिचय में नाम, गुरु आदि के साथ ही 'कुल' की जानकारी भी प्राप्त करते थे ।[३]

इनके अतिरिक्त भी जैन साहित्य में निम्नलिखित आचार्यों के उल्लेख मिलते हैं ।

एलाचार्य :—गुरु (आचार्य) के पश्चात् जो श्रमण चारित्र का क्रम (उपदेश) श्रमणों और आर्यिकाओं को कहता है उसे अनुदिस या एलाचार्य कहते हैं।[४]

निर्यापकाचार्य :—देश संयम और सकलसंयम इन दोनों के छेद की शुद्धि के लिए प्रायश्चित देकर जो संवेग और वैराग्यवर्धक परमागम के वचनों द्वारा श्रमणों का संवरण करते हैं । उन्हें निर्यापक कहते हैं । इन्हें ही शिक्षागुरु या श्रुतगुरु भी कहते हैं ।[५] निर्यापक संसार भीरु, पापकर्म भीरू या सर्वजिनागम के ज्ञाता होते हैं । और ऐसे ही निर्यापकाचार्य के पादमूल में समाधिमरणोद्यमी श्रमण आराधना की सिद्धि करता है । समाधिमरण का इच्छुक श्रमण तो पाँच से सात सौ योजन से भी अधिक विहार करके ऐसे शास्त्रोक्त निर्यापक का अन्वेषण करते हैं[६] क्योंकि निर्यापकत्व गुणधारक आचार्य ही समाधिमरण साधकर श्रमण का मन आह्लादित कर सकते हैं ।[७] मूलाचार तथा इसकी वृत्ति में कहा है कि जैसे कर्णधार से रहित उत्तम रत्नों से भरी नौकायें नगर के समीप किनारे आकर भी प्रमाद के कारण डूब जाती हैं—वैसे साधु (क्षपक) रूपी नौकाएँ भी सम्यग्दर्शन ज्ञान और चरित्ररूपी रत्नों से परिपूर्ण हैं और सिद्धि के समीप तक आ चुकी हैं, फिर भी निर्यापकाचार्य के बिना प्रमाद के निमित्त से वे क्षपक रूपी नौकाएँ संसार समुद्र में डूब जाती है । अतः इस तरफ सावधानी अपेक्षित है ।[८]

---

१. प्रवचनसार ता० वृ० २०३, पृ० २७६.
२. स्थानांग टीका (अभयदेव सूरि) पृ० ५१६.
३. मूलाचार ४।१६६.
४. अनुगुरोः पश्चाद्दिशति विधत्ते चरणक्रममित्यनुदिक् एलाचार्यस्तस्मै विधिना—भ० आ० की मूलाराधना टीका १७७. पृष्ठ ३९५.
५. प्रचनसार ता० वृ० २१०.
६. भ० आ० ४००–४०१.
७. वही ५०६. विजयोदया सहित.
८. मूलाचार वृत्तिसहित २।८८.

इनके अतिरिक्त नवनियुक्त उत्तराधिकारी आचार्य भी होते हैं जिन्हें बालाचार्य कहा जाता है। आवश्यक निर्युक्ति में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन निपेक्षों की दृष्टि से आचार्य के चार भेद किये हैं।[१] महानिशीथ में भावाचार्य को तीर्थंकर के समान समझने का निर्देश है।[२]

२. उपाध्याय : श्रमणसंघ में आचार्य के बाद उपाध्याय का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। नवकार में भी पंचपरमेष्ठी के रूप में उपाध्याय का चतुर्थ स्थान है। अर्थ और सूत्र के अधिकारी आचार्य और उपाध्याय होते हैं। अर्थ वाचना आचार्य देते हैं और सूत्र की वाचना देने का कार्य उपाध्याय करते हैं[३]। पास में आकर जिनसे अध्ययन किया जाए वे उपाध्याय है।[४] जिनके समीप जिनप्रवचन पढ़ा जाता है, वे सूत्र-प्रदाता मुनिवर उपाध्याय कहलाते हैं।[५]

आवश्यक निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने 'उज्झा' (उपाध्याय) पद की निर्युक्ति में कहा गया है कि 'उ' अर्थात् उपयोगकरण 'ज्झा' अर्थात् ध्यानकरण। इसप्रकार उपयोगपूर्वक ध्यान करने वाले को 'उज्झा' कहते हैं।[६] जो द्वादशांग का स्वयं अध्ययन करता है तथा दूसरों को वाचना रूप से उपदेश देता है उसे 'उपाध्याय' कहते हैं।[७] अपराजितसूरि के अनुसार उपाध्याय असमस्त श्रुतज्ञान के धारी, रत्नत्रय के अतिचारों के ज्ञाता, स्वाभाविक बुद्धिमान और जितेन्द्रिय महात्मा होते हैं। ये विवेच्य वस्तु का समस्त अङ्गोपाङ्ग स्वरूप, दृष्टान्त एवं युक्तिपूर्वक विवेचन करने वाले तथा कुपित क्षपक को भी अपनी मधुर वाणी से प्रसन्न करने वाले होते हैं।[८]

वस्तुतः जिनोपदिष्ट द्वादश अंग रूप श्रुत को स्वाध्याय कहा जाता है तथा

---

१. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ९८७-९८८.
२. जे ते भावायरिया ते तित्थयरसमा चेव दट्ठव्वा ...। महानिशीथ अ० १.
३. अत्थं वाएइ आयरियो, सुत्तं वाएइ उवज्झाओ। वृत्ति– अर्थप्रदा आचार्याः, सूत्रप्रदा उपाध्यायाः—ओघनिर्युक्ति वृत्ति।
४. उपेत्यास्मादधीयते उपाध्यायः—मूलाचार वृत्ति ४-१५५.
५. उप = समीपम् आगत्य अधीयते जिनप्रवचनं यस्मात्स उपाध्यायः—सूत्रप्रदातेत्यर्थः—कल्पसूत्रटीका पृष्ठ ५०.
६. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ९९६.
७. वही गाथा ९९५.
८. भ० आ० विजयोदया टीका ५००.

स्वाध्याय रूप इन द्वादशाङ्गों का अपने शिष्यों को जो उपदेश करता है, पढ़ाता है वह उपाध्याय कहलाता है।[1]

नियमसार में कहा है कि जो रत्नत्रय से युक्त, जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित पदार्थों का उपदेश करने में कुशल और आकांक्षा रहित होते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं।[2] धवला के अनुसार जो श्रमण चौदह पूर्व रूपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित है तथा मोक्ष के इच्छुक शीलंधरों (श्रमणों) को उपदेश देते हैं वे श्रमण उपाध्याय कहलाते हैं। ये संग्रह और अनुग्रह गुणों को छोड़कर आचार्य के समस्त गुणों से युक्त होते हैं।[3] द्रव्य-संग्रह में कहा गया है कि जो रत्नत्रय से संयुक्त हैं, नित्य धर्मोपदेशों में निरत है वह यतियों में श्रेष्ठ आत्मा उपाध्याय है।[4]

इसप्रकार उपाध्याय पद लिए शास्त्रों का विशेष अभ्यास ही प्रमुख कारण है क्योंकि जो स्वयं अध्ययन करता है और शिष्यों को भी अध्ययन कराता है वही गुरु उपाध्याय कहलाता है। इनमें व्रत आदि के पालन की शेष विधि सभी श्रमणों के समान होती है।[5]

इस तरह आचार्य एवं उपाध्याय के स्वरूप विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन श्रमण संघ एक प्रकार चलते फिरते गुरुकुल थे, जिनमें सत्-शास्त्रों का सांगोपांग अध्ययन चलता रहता था। केवल जैन शास्त्रों का ही अध्ययन होता हो यह बात नहीं थी अपितु साहित्य की विविध विधाओं से परिचित कराया जाता था। तभी तो वे अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा अन्य मतों से परीक्षापूर्वक कर पाते थे। मूलाचार में उल्लिखित कौटिल्य, महाभारत, रामायण और ऋग्वेदादि[6] के नामों के उल्लेख से ग्रंथकार का बहुशास्त्रवेत्तृत्व गुण प्रकट होता है। उस समय और

---

१. (क) बारसंगं जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधे।
उवदेसइ सज्झायं तेणुवज्झाउ उच्चदि॥ मूलाचार ७।१०, आवश्यक निर्युक्ति १०००.

(ख) बारसंगो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ बुहे।
तं उवइस्संति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चंति॥ कल्पसूत्र कल्पमंजरी टीका पृष्ठ ५०.

२. नियमसार ७४.

३. धवला १।१।१ गाथा ३२ पृष्ठ ५१.

४. द्रव्यसंग्रह ५३.

५. पञ्चाध्यायी उत्तरार्द्ध ६६१–६६२.

६. मूलाचार ५।६१.

विशेष अध्ययन हेतु शिष्य श्रमण एक संघ या गण से दूसरे संघ या गण आते-जाते थे। ऐसे श्रमणों को आगन्तुक श्रमण कहा जाता था। आर्यिकायें भी संघ में अपनी शंकाओं का समाधान और अध्ययन आचार्य और उपाध्याय से करतीं थीं। स तरह समस्त शास्त्रों के गहनतम अध्ययन-अध्यापन रूप शैक्षाणिक प्रवृत्तियां का श्रमण संघ में अपना एक विशिष्ट एवं आश्चर्यकारी महत्व रहा है। इसमें जहाँ संघ के आचार्य का सानिध्य तथा उनका मार्गदर्शन बहुत महत्व रखता है वहाँ शैक्षणिक गतिविधियों में उपाध्याय की प्रमुख भूमिका रहती है।

३. **प्रवर्तक** : अल्पश्रुत का ज्ञाता होने पर भी जो संघ की सम्पूर्ण मर्यादा और चारित्र का ज्ञाता होता है, वह प्रवर्तक होता है। वसुनन्दि के अनुसार जो संघ का प्रवर्तन करते हैं वे प्रवर्तक कहलाते हैं।[1]

उपाध्याय से ज्ञान में ये अल्प (लघु) होते हैं। किन्तु सर्वसंघ की मर्यादा के योग्य आचार का इन्हें विशेष ज्ञान होने से ये प्रवर्तक कहलाते हैं।[2] संघ का प्रवर्तन (संचालन) करने वाले श्रमण प्रवर्तक कहलाते हैं।[3] कल्पसूत्र टीका में कहा गया है जो योग्य साधुओं को प्रशस्त योगों में प्रवृत्त करते हैं वे प्रवर्तक हैं। कहा भी है—जो योग्य मुनि को तप और संयम में प्रवृत्त करते हैं, और अयोग्य को हटाते हैं, इस प्रकार गण का कार्य करने वाले मुनि प्रवर्तक कहलाते हैं।[4]

संघ में प्रवर्तक का यह प्रमुण कर्त्तव्य होता है कि साधु–साध्वियों के जीवन में आचार-विचार की सम्यक् व्यवस्था करे अथवा वैसी प्रवृत्ति जागृत करे तथा उसे वैसी ही शिक्षा देना चाहिए।[5]

४. **स्थविर** : चिरकाल से दीक्षित और मुनि-मार्ग के अनुभवी मुनिवर स्थविर मुनि हैं। वसुनन्दि के अनुसार जिनसे शिष्य के आचरण स्थिर होते हैं, वे स्थविर कहलाते हैं।[6] आचारांगसूत्र टीका में कहा है कि स्थविर का कार्य

---

१. प्रवर्तकः संघं प्रवर्तयतीति प्रवर्तकः –मूला० वृत्ति ४।१५५.

२. पवत्ती अल्पश्रुतः सन्सर्वसंघ मर्यादाचरितज्ञः प्रवर्तकः—भ० आ० मूलाराधना गाथा ६२९, पृ० ८३१।

३. संघं प्रवर्तयतीति प्रवर्तकः –मूलाचार वृत्ति ४।१५५.

४. यः प्रशस्तयोगेषु योग्यान् साधून् प्रवर्त्तयति अयोग्यांश्च निवर्त्तयति स प्रवर्त्तकः तदुक्तम्—

तवसंजमजोगेसु जोग्गं जो उ पवट्टए।
निवट्टए अजोग्गं च गणचिंती पवट्टगो ॥१॥ कल्पसूत्रटीका पृष्ठ ५३.

५ बृहत्कल्पसूत्र निर्युक्ति लघु भाष्य वृ० प्रस्तावना पृ० ६६.

६. यस्मात् स्थिराणि आचरणानि भवन्तीति स्थविरः—मूलाचार वृत्ति ४।१५५.

संघ में प्रवेश करने वाले साधु-साध्वियों को उनके धर्मानुकूल पवित्र आचार आदि की शिक्षा देना तथा उनके संयम-योग के नियमों-उपनियमों को स्थिर करना है।[१] कल्पसूत्र टीका में कहा है—मोक्षाभिलाषी, कोमल प्रकृति वाले और धर्मप्रिय किन्तु ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप उपादेय अर्थों से च्युत होने वाले और खेद का अनुभव करनेवाले मुनियों को अपने कर्त्तव्य का स्मरण कराकर और उनको इहलोक और परलोक सम्बन्धी हानियाँ बतलाकर संयमयोग में स्थिर करने वाले स्थविर कहलाते हैं। कहा भी है—संवेग (वैराग्य) से सम्पन्न, मृदुल-हृदय, धर्मप्रिय होते हुए भी जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र में जिन अर्थों का परित्याग करने के लिए उद्यत हुए हैं उन साधुओं को उन अर्थों का जो स्मरण कराते हैं अर्थात् रत्नत्रय के परित्याग से होने वाली हानियाँ बतलाते हैं: वे स्थविर कहलाते हैं।[२] स्थविर पद पर भी वही प्रतिष्ठित हो सकता है जो श्रमण आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला, आचार, प्रवचन, प्रज्ञा, संग्रह और उपग्रह में कुशल, अखंड चारित्रवाला, असबलदोषी, अभिन्नाचारी, असंक्लिष्ट चारित्रवाले, बहुश्रुत, विद्यागामी, स्थानांग और समवायांग सूत्र के ज्ञाता हों। स्थविर के अतिरिक्त उपर्युक्त गुण गणी, गच्छावच्छेदक आचार्य, उपाध्याय एवं प्रवर्तिनी के लिए भी अपेक्षित माने गये हैं।[३] स्थानांगसूत्र में दस प्रकार के स्थविरों का उल्लेख मिलता है—ग्राम, नगर, राष्ट्र, पार्श्वस्थ, कुल, गण, संघ, वय, श्रुत और दीक्षा स्थविर।[४]

५. **गणधर** : जो गण को धारण करता है वह गणधर कहा जाता है।[५] जो आचार्य नहीं है किन्तु बुद्धि से आचार्य के सदृश हो और गुरु की आज्ञा से साधु—समूह को साथ लेकर पृथक् विचरता हो वह गणधर कहलाता है।[६]

---

१. आचारांग सूत्र (अभयदेव टीका) पृष्ठ ४८८.

२. संविग्गो मद्दविओ प्रियधम्मो नाण-दंसण-चारित्ते।
जे अट्ठे परिहायइ, सारेंतो सो हवइ थेरो ॥१॥
—कल्पसूत्र (कल्पमञ्जरी टीका) पृ० ५२.

३. बृहत्कल्पसूत्र लघु भाष्य वृ० पृ० ६३.

४. स्थानांग सू० १०।७६०.

५. गणं धरतीति गणधरः—मूलाचार वृत्ति ४।१५५.

६. आचार्य सदृशो गुर्वादेशात् साधुगणं गृहीत्वा पृथग्विहरति स गणधर इति।
तदुक्तम्—नो आयरिओ पुण जो, तारिसओ चेव होइ बुद्धीए।
साहुगणं गहिऊणं वियरइ सो गणहरो होइ ॥
—कल्पसूत्र टीका सूत्र ६. पृ० ५६.

गणधर का धर्म है--शास्त्र परम्परा को अविच्छिन्न रखना।[1]

श्वेताम्बर परम्परा में गणावच्छेदक नाम से एक अन्य पद का भी उल्लेख मिलता है। गण के एक विभाग के जो स्वामी हों तथा जो गण के कार्यों में उद्यत रहते हों वे गणावच्छेदक कहलाते हैं। कहा भी है—जिनशासन की प्रभावना करने में गण के हित के लिए दूर के क्षेत्र में भी जाने में और क्षेत्र (ग्राम आदि योग्य स्थान) और उपधि की गवेषणा करने में खिन्न न होने वाले तथा सूत्र-अर्थ के ज्ञाता गणावच्छेदक कहलाते हैं।[2]

इस तरह आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर—ये संघ के पाँच आधार हैं। ये सभी जिस संघ में होते हैं उसमें सुव्यवस्था के साथ ही व्यक्तित्व के विकास के सभी साधन भी उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार श्रमण संघ के अन्तर्गत कार्य-विभाजन की दृष्टि से आचार्य का कार्य सूत्र के अर्थ की वाचना देना और संघ का सर्वोपरि संचालन एवं मार्ग-दर्शन करना है। उपाध्याय का कार्य सूत्र की वाचना देना, शिक्षा की वृद्धि करना है। प्रवर्तक का कार्य है संघ का प्रवर्तन करना तथा अपने आचार्य द्वारा बताई हुई धार्मिक प्रवृत्तियों में, सेवा आदि कार्यों में श्रमणों को नियुक्त करना। स्थविर का कार्य श्रमणों को संयम में स्थिर करना, श्रमणधर्म (श्रामण्य) में विचलित हुए मुनियों को पुनः स्थिर करना। उनकी आन्तरिक और बाह्य समस्याओं के समाधान की व्यवस्था करना है। तथा गणधर का कार्य है श्रमणों की दिनचर्या का ध्यान रखना और अपने धर्म की प्रभावना करना।

संघ के ये पाँच आधार कार्य विभाजन के आधार पर आधारित हैं।

चातुर्वर्ण्यसंघ

ऋषि, मुनि, यति और अनगार–ये चार प्रकार के श्रमण चातुर्वर्ण्य संघ के अन्तर्गत आते हैं। क्रमशः इनका स्वरूप इस प्रकार हैं—

१. ऋषि—ऋद्धि प्राप्त श्रमण ऋषि कहलाते हैं। इन्द्रियों को जीतने वाले, रागद्वेष और मोह का क्षय करके ध्यान रूप शुद्धोपयोग में युक्त रहकर

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र बृहद् वृत्ति, पत्र, ५८४.

२. (क) गणस्य अवच्छेदः—विभागः अंशोऽस्ति यस्यासौ तथा, गणैकांशस्वामी।
कल्पसूत्र कल्पमंजरी टीका पृष्ठ ५०.

(ख) पभावणुद्धावणेसु खेतोवज्झेसणासु य।
अविसाई गणावच्छेयगो सुत्तत्थवी मओ॥ वही १ पृ० ५१.

सम्पूर्ण कर्मों का विनाश करने वाले महर्षि हैं।[1] राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि के भेद से ऋषि के चार भेद हैं, जिनका स्वरूप विवेचन पहले किया जा चुका है।

२. **मुनि**—ज्ञान की आराधना-मनन करने वाला 'मुनि' कहलाता है। इस प्रकार मनन मात्र भावस्वरूप होने वाला मुनि होता है।[3] जो स्व-पर के अर्थ (प्रयोजन) सिद्धि (सर्वार्थसिद्धि) को जानते और मानते हैं वे मुनि हैं अथवा मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान से युक्त मुनि कहलाते हैं।[4] आप्त-विद्या (आगम) में वृद्ध और मान्य होने से महापुरुषों में 'मुनि' संज्ञा प्रसिद्ध है।[5] मननात् मुनिः—इस व्युत्पत्ति के आधार पर जो आत्मा का मनन करे वह मुनि है।

आचारांग सूत्र में मुनि-जीवन की स्थिरता के सुन्दर सात सूत्रों का प्रतिपादन किया गया है[1]—

१. आज्ञाप्रियता—अर्थात् ज्ञान और उपदेश।

२. स्नेह-मुक्ति।

३. पूर्वरात्र (रात्रि के प्रथम दो प्रहर) तथा अपररात्र (रात्रि के शेष दो प्रहर) में यतना अर्थात् दो या तीन प्रहरों में जागृत रहकर ध्यान और स्वाध्याय करना, अप्रमत्त रहना 'यतना' है।

४. शील-संप्रेक्षा—महाव्रतों का अनुशीलन, इंद्रियों का संयम, मन, वाणी और काय की स्थिरता, क्रोध, मान, माया और लोभ का निग्रह। यह शील है तथा इसका सतत् दर्शन—'शील-संप्रेक्षा' है।

५. लोकसार का श्रवण अर्थात् लोक में सारभूत तत्त्व—ज्ञान-दर्शन और चारित्र का श्रवण।

६. कामना का परित्याग।

७. कलह का परित्याग।

---

१. एवं णियाय मुणिणा पवेदितं—इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, पुव्वावररायं जयमाणे, सया सीलं संपेहाए, सुणिया भवे अकामे अझंझे।
—आयारो-पंचम लोकसार अध्ययन तृतीय उद्देशक सूत्र ४४ तथा टिप्पण पृ० २१३-२१४.

१. मूलाचार ९।११५.

२. नाणेण उ मुणी होई—सूत्रकृतांग १।१३।२०.

३. मननमात्रभावतया मुनिः—समयसार-आत्मख्याति १५१.

४. मूलाचार वृत्ति ९।१२०.

५. मान्यत्वादाप्तविधानां महद्भिः कीर्त्यते मुनिः—यशस्तिलक चम्पू ८।४४.

३. **यति**—इन्द्रियजय द्वारा शुद्धात्म-स्वरूप के प्रयत्न में तत्पर रहने वाला यति कहलाता है।[१] जो तेरह प्रकार के चारित्र में प्रयत्न करते हैं अथवा उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी में आरोहण करने में तत्पर 'यति' कहे जाते हैं।[२]

४. **अनगार**—सामान्य साधु को अनगार कहते हैं।[३] अगार अर्थात् गृह, स्त्री इत्यादि—इन सबका त्याग करने वाला सामान्य श्रमण अनगार कहलाता है।[४] उपभोगित पुष्पों की तरह धन, पशु, कनक आदि समृद्धि एवं बन्धु-बान्धवों को छोड़कर जो व्यक्ति घर में रहने की कामना से पूर्ण विरक्त हो जाते हैं वे वीर पुरुष अनगार कहलाते हैं।[५] जिन संयोगों में गृहस्थ उलझ जाते हैं उन सबका गृहत्यागी एवं प्रव्रजित अनगार ज्ञान द्वारा त्याग कर देते हैं, क्योंकि गृहस्थ जीवन राग-द्वेष एवं आरम्भादि को उत्पन्न करने वाला होता है। वह मृत्युपर्यन्त अपरिग्रही, निदानरहित और शरीर की ममता को छोड़कर शुक्लध्यान का ध्याता बनता है। ममत्व, अहंकार एवं आश्रव से रहित होकर वह अनगार केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

अनगार अवस्था धारण करने की अपनी एक प्रक्रिया है। सीधे एक साथ ही कोई अनगार नहीं बन जाता। दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभोजनत्याग, ब्रह्मचर्यव्रत, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमति-त्याग और उद्दिष्टत्याग—श्रावक की ये ग्यारह प्रतिमायें अनगार अवस्था तक पहुँचने की सीढ़ियाँ हैं। ये ही श्रावक की क्रमशः आत्मोन्नति को सूचक हैं। ग्यारहवीं प्रतिमा में पहुँचते-पहुँचते वह लंगोटीमात्र का धारी (ऐलक) बनकर आगे अनगार बनने का पूर्ण अभ्यास कर लेता है तब कहीं अनगार दीक्षा उसे दी जा सकती है। मुमुक्षु श्रावक में जब वैराग्य उत्पन्न होता है तब वह इन ग्यारह प्रतिमाओं आदि को धारण करके श्रमण संघ में रहकर भी पूर्ण ब्रह्मचर्य, क्षुल्लक तथा ऐलक आदि अवस्थाओं में पूर्ण अभ्यस्त होकर अनगार के सर्वथा योग्य बन जाता है, तब कहीं उसकी योग्यता की परीक्षा लेकर उसे चतुःसंघ के समक्ष विधि-पूर्वक दीक्षा द्वारा अनगार बनाते हैं।

---

१. इन्द्रियजयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रयत्नपरो यतिः—प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति ६९.
२. त्रयोदशविधे चारित्रे यतन्त इति यतयोऽथवोपशमक्षपकश्रेण्यारोहणपरा यतयः —मूलाचारवृत्ति ९।१२०.
३. अनगाराः सामान्य साधवः—प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति २४९.
४. न विद्यतेऽगारं गृहं स्त्र्यादिकं येषां ते अनगाराः—मूलाचारवृत्ति ९।२.
५. मूलाचार ९।८.

अनगार भावना के दस सूत्र :

एक सच्चे अनगार को जिन शुद्धियों का निरन्तर ध्यान रखने, उनकी भावना भाते रहने और आचरण में लाने का विधान है, अनगार भावना के वे दस सूत्र[1] निम्नलिखित हैं—

१. **लिंगशुद्धि** : लिंग का अर्थ है चिह्न । विशुद्ध निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण करके तदनुरूप आचरण करना अनगार भावना का प्रथम सूत्र है । दूसरे शब्दों में शरीर के संस्कार जैसे—स्नान, आदि सबका पूर्ण त्याग करके पूर्ण नग्नता धारण करना, केशलोंच करना, संयमार्थ हाथ में पिच्छि रखना, रत्नत्रय एवं तप का आचरण करना लिंगशुद्धि है ।[2] वस्तुतः संयम-यात्रा के निर्वाह हेतु और—'मैं साधू हूँ' इसका बोध करने के लिए लोक में लिंग (वेष धारण) का प्रयोजन है ।[3] भावों की विशुद्धि के लिए बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है । वह द्रव्यलिंग है तथा देह की ममता से रहित, मान आदि कषायों से पूरी तरह मुक्त है वही स्वात्मा में लीन श्रमण भावलिंगी है ।[4] इस प्रकार मूर्च्छा, आरम्भ और परापेक्षा रहित, उपयोग और योग की शुद्धि से युक्त लिंगशुद्धि मोक्ष का कारणभूत होती है ।

लिंग के चार भेद हैं—अचेलकत्व, केशलोंच, शरीर-संस्कार का त्याग और प्रतिलेखन ।[5] इनमें अचेलकत्व निःसंगता का चिह्न है, लोच से सद्भाव ज्ञात होता है, व्युत्सृष्टदेहत्व वीतरागता का चिह्न है तथा प्रतिलेखन दयापालन का चिह्न है ।[6] लिंगशुद्धि युक्त दृढ़बुद्धि वाले श्रमण तपों में उत्साहयुक्त, कर्मक्षय में तत्पर एवं भगवान् जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित परमार्थ मे सदा अनुरक्त रहते हैं ।[7] जन्ममरण से उद्विग्न, संसारवास एवं उसके दुःखों से भयभीत रहते हुए

---

१. लिंगं वदं च सुद्धी वसदिविहारं च भिक्ख णाणं च ।
उज्झणसुद्धो य पुणो वक्कं च तवं तधा झाणं ।। मूलाचार ९।३.

२. मूलाचारवृत्ति ९।३.

३. उत्तराध्ययन २३।३२.

४. भावपाहुड ३।५६.

५. मुच्छारं भविजुत्तं जुत्तं उपजोगजोगसुद्धीहिं ।
लिंगं ण परावेक्खं अवुणभवकारणं जेण्हं ।। समयसार २०६.

६. अच्चेलक्कं लोचो बोसट्ट सरीरदा य पडिलिहणं ।
एसो हुए लिंग कप्पो चदुव्विधो होदि णायव्वो ।। मूलाचार १०।१७.

७. मूलाचारवृत्ति, १०।१७.

८. मूलाचार ९।११.

जिनवरवृषभ एवं वर्धमान आदि के धर्मतीर्थ पर ही त्रिविध श्रद्धान करते हैं, अन्य धर्मतीर्थों पर नहीं।[1]

२. **व्रतशुद्धि** : पापों से विरक्त होना व्रत है। वृत्तिकरण, छादन, संवर और विरति—ये सब 'व्रत' के पर्यायवाची नाम हैं।[2] वैराग्ययुक्त श्रमण द्वारा प्राणिवध, मृषावाद आदि पाँच पापों का मन, वचन, काय से त्याग करके अहिंसा, सत्यभाषण, आदि पाँच महाव्रतों का धारण करना व्रतशुद्धि है।[3]

३. **वसतिशुद्धि** : सामान्यतः श्रमण नगर में पाँच दिन और ग्राम में एक रात्रि ठहरते हैं। जब वे विहार करते हैं उस समय गृह आदि आश्रयस्थल की अपेक्षा उन्हें नहीं होती, जहाँ सूर्यास्त होता है वहीं प्रासुक स्थान में निर्भयता पूर्वक ठहर जाते हैं। चाहे वह स्थल जल से विदीर्ण, पर्वत की गुफा, कन्दरा, शून्यघर, श्मशान आदि भले ही हो, पर वह प्रासुक, एकाकी और विकलता रहित स्थल होना चाहिए। श्रमण सदा प्रासुक प्रदेश में विहार करते हैं तथा स्त्री पुरुषादि से वर्जित एकान्त स्थलों में ही निवास करते हैं। ऐसे स्थलों के अन्वेषण में वे गन्धहस्ति के सदृश धीर होते हैं तथा शुक्लध्यान में रत रहकर मुक्ति रूप उत्तम सुख प्राप्त करते हैं। वसतिकाओं से अप्रतिबद्ध रहना ही वसति शुद्धि है। इसी के द्वारा वे उपर्युक्त स्थलों में रहते हुए वीर प्रभु के वचनों में क्रीड़ा करते हैं।[4]

४. **विहारशुद्धि** : श्रमण अनियत विहारी होते हैं। क्योंकि एक स्थल पर बहुत समय तक रहने से प्रमाद और आलस्य में वृद्धि होती हैं। गृहस्थों आदि से स्नेह-परिचय हो जाता है, इससे संयम में शिथिलता आती है। जबकि ग्रामानुग्राम विहार से निर्लेपता और सहनशीलता बनी रहती है अतः जैसे हवा मुक्त, निरपेक्ष और स्वच्छंद रूप में नगर और खानों आदि से विभूषित पृथ्वी पर सर्वत्र बहती है वैसे ही श्रमण सभी तरह के परिग्रहों से मुक्त, निरपेक्ष एवं स्वतंत्ररूप में विचरण करते हैं।[5] विहार शुद्धि में यह भी आवश्यक है कि जहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र में वृद्धि हो अर्थात् विशुद्ध संयम का पालन हो वहीं विहार

---

१. मूलाचार ९।१०.

२. णाऊण अब्भुवेच्चय पावाणं विरमणं वदं होई।
विदिकरणं छादणं संवरी विरदित्ति एगट्ठो ।।
—भ० आ० वि० टी० ४२१, पृ० ६१४.

३. मूलाचार ९।१२-१४.

४. वही ९।१८-२२.

५. मूलाचार ९।३१.

करना चाहिए। विहारशुद्धि युक्त श्रमण उपेक्षावृद्धि, माध्यस्थभाव, उपशान्त, अदीन, निभृत, निराकांक्ष और अशठ—इन गुणों से युक्त, काममोगों को सदा के लिए भूल जाने वाले तथा जिनेन्द्रदेव के वचनों में अनुरक्त होते हैं।[1] अनियतविहारी होते हुए भी वे ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न होकर श्रुतज्ञानरूपी दीपक की सहायता से अगर्भवास (मोक्ष) की विशेष इच्छा रखते हुए वीतराग भावनाओं में निरत, ज्ञान-दर्शन-चारित्र-योग और वीर्य के साथ वैराग्य का चिन्तन करते रहते हैं।

५. **भिक्षा शुद्धि** : भिक्षा शुद्धि का अर्थ है विधिपूर्वक विशुद्ध आहार ग्रहण करना अर्थात् औद्देशिक, क्रीत, अज्ञात, शंकित, अभिघट दोषयुक्त तथा आगम-विरुद्ध एवं आगमनिषिद्ध आहार का पूर्णतः त्याग करना तथा मन, वचन, काय, एवं कृत, कारित और अनुमोदना रूप नव कोटियों से विशुद्ध, शंका-कांक्षादि दस दोषों और नख, रोमादि चौदह मलों से रहित ऐसे विशुद्ध आहार को परगृह में दूसरों अर्थात् श्रावकों के द्वारा दिये आहार को अपने पाणिपात्र में ग्रहण करना भिक्षाशुद्धि है।[2] इसके अन्तर्गत अविवर्ण, प्रासुक, प्रशस्त और एषणा समिति से विशुद्ध आहार, नियत समय पर, दिन में एक बार ही ग्रहण करना तथा आहार ग्रहण के बाद दोषों के नाशार्थ प्रतिक्रमण करना चाहिए।[3]

६. **ज्ञानशुद्धि** : ज्ञानरूपी दृष्टि को प्राप्त करके ज्ञान-प्रकाश से परमार्थ को देखना, निःशंकित, निर्विचिकित्सा और आत्मबल के अनुसार पराक्रम (उत्साह) को धारण करना ज्ञानशुद्धि युक्त अनगार के लक्षण है। ऐसे ही ज्ञान विषयक परमार्थ, अष्टांग निमित्त आदि के ज्ञाता श्रमण पदानुसारी बुद्धि, बीज बुद्धि, संभिन्न बुद्धि और कोष्ठ बुद्धि—इन चार बुद्धियों से सम्पन्न, बारह अंग और चौदह पूर्व के धारण और ग्रहण में समर्थ तथा धीर होते हैं।[4]

७. **उज्झन शुद्धि** : उज्झन शुद्धि से तात्पर्य शरीर संस्कार का त्याग करके अपने शरीर के प्रति ममत्व भाव से रहित होना है। बन्धु-बान्धवों के प्रति तथा अपने नाशवान् शरीर के प्रति स्नेह और राग रहित होना उज्झन शुद्धि है। शरीर में रोग आदि उत्पन्न होने पर मन को खेद-खिन्न, विकल तथा आकुल न करके औषधि या चिकित्सा की इच्छा न करना और शरीर के विषय में प्रतिकार

---

१. मूलाचार ९।३७-३९.
२. वही, ९।४१-४२.
३. वही, ९।४६-४५.
४. वही, ९।५५, ६१, ५३.
५. वही, ९।६२, ६५-६६

रहित होकर उपस्थित व्याधि और रोगों को धैर्यपूर्वक सहना उज्झन शुद्धि है। इसके लिए गृहस्थाश्रम के समय जिन इन्द्रिय विषय भोगों का उपभोग किया हो एवं विविध रतिक्रीड़ाओं, ऋद्धि तथा भोजनादिक भोगों का उपभोग किया हो उन सबका श्रमण जीवन में कभी स्मरण तक नहीं करना चाहिए।[1]

८. **वाक्य-शुद्धि** : विनयरहित भाषा, धर्म विरोधी वचनों एवं लौकिक कथाओं का वर्जन करके कलह, द्वेषादि भावयुक्त भाषण न करना, नेत्रों से सब कुछ देखते हुए एवं कानों से बहुविध शब्दों को सुनते हुए भी मूक के समान रहना वाक्यशुद्धि है।[2] इसके अन्तर्गत जीवों के सन्ताप को दूर करने वाली, इह-परलोक हितकारी, धर्ममयी, समयोपचार आगम और विनय) युक्त तथा जिनोपदिष्ट तत्त्वार्थों की कथाओं का कथन करते हैं।[3] स्त्री, अर्थ, भक्त, (भोजन) खेट, (चारों ओर नदी पर्वतों से घिरा हुआ देश) कर्वट (सर्वत्र पर्वतों से घिरा हुआ देश), राजा, चोर, जनपद, नगर, आकर, नट, भट (योद्धा), मल्ल, मायाकर, (जादूगर), जल्ल, (मछली, पक्षी आदि पकड़ने वाले) मुष्टिका (जुआड़ी) आर्याकुल, (दुर्गा आदि का आम्नाय अथवा बकरा आदि सभी पशु पालक) लंघिका (वस्त्र, बांसुरी आदि में कुशल) इत्यादि प्रकार की लौकिक तथा राग कथाओं में वे धीर श्रमण अनुरंजित नहीं होते।[4] और न इन विकथाओं एवं विश्रुतियों (रत्नत्रय और तप के प्रतिकूल वचनों) का क्षण भर के लिए भी हृदय में चिन्तन करते हैं।[5] कौत्कुच्च (कण्ठ और हृदय से अव्यक्त शब्द), कंदर्पायित (कामोत्पादक भाषण), हास्य, उल्लापन (चातुर्यपूर्ण विविध भाषण), खेड (उत्पातपूर्ण वचन) और मददर्प (अपने हाथ से दूसरे का हाथ मरोड़ना अर्थात् हस्त ताडन) आदि क्रियायें मुनि न स्वयं करते हैं, न दूसरों से कराते हैं और ऐसा करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करते। वे तो निर्विकार, स्तिमितमति श्रमण अपने नियमों और व्रतों में दृढ़ प्रतिज्ञ रहते हैं तथा जिन-

---

१. मूलाचार ९।७०, ८४, ७३-७४, ८५-८६.

२. वही, ९।८७-८८।

३. वही, ९।९४।

४. इत्थिकहा अत्थकहा भत्तकहा खेडकव्वडाणं च।
रायकहा चोरकहा जणवदणयरायरकहाओ॥
णडभडमल्लकहाओ मायाकरजल्लमुट्ठियाणं च।
अज्जउललंघियाणं कहासु ण वि रज्जए धीरा॥ वही, ९।८९-९०.

५. वही, ९।९१.

वचनों (आगम) द्वारा प्रतिपादित अर्थयुक्त उन कथाओं को कहते हैं जो कि समयोपचार (पथ्य) युक्त तथा परलोक हितकारी होती हैं।[1]

९. **तपः शुद्धि** : पाँच महाव्रतों एवं पाँच समितियों के आचरण से युक्त, धीर, पचेन्द्रियों के विषय से विरक्त[2] श्रमण पंचमगति (सिद्धगति) के अन्वेषक तपः शुद्धि के स्वामी होते हैं।[3] वे पंचेन्द्रियों को रागभाव से कभी बँधने नहीं देते अपितु जैसे तीव्र उष्णता के प्रभाव से हल्दी द्वारा रंगे गये वस्त्रों का रंग नष्ट हो जाता है। वैसे ही सदाचार के प्रभाव से उनका रागभाव नष्ट हो जाता है[4] क्योंकि वे प्रमादपूर्ण आचरणों से सर्वथा रहित, संयम, समिति, ध्यान, योग, तप, चरण और करण—इनसे युक्त तथा पापों के शमन में तत्पर रहते हैं। तपः शुद्धि युक्त श्रमण नलिनी वन का भी विनाश करने वाली अत्यधिक हेमन्त ऋतु की ठण्ड और शरीर पर गिरने वाले हिमकणों को धैर्यपूर्वक सहते है। ग्रीष्म ऋतु में सर्वांग से उत्पन्न मल से मलिन तथा उष्ण किरणों से दग्ध अंगों से निश्चल कायोत्सर्ग मुद्रा में सूर्य की ओर मुख करके आतापन योग करते हैं। वर्षाऋतु में धारान्धकार से गहन, घोर गर्जना करने वाले तथा प्रवर्षणशील मेघों तथा प्रचण्ड हवा की बाधा सहन करते हुए अहर्निश मूसलाधार वर्षा में भी वृक्ष के मूल में ध्यानस्थ रहकर वृक्षमूलयोग करते हैं। कर्मों के क्षयार्थ बाईस परीषहों की वेदना तथा मिथ्यादृष्टियों द्वारा प्रयुक्त दुर्जन वचनों एवं विविध उपद्रवों को समतापूर्वक सहते हैं।[5]

१०. **ध्यानशुद्धि** : इन्द्रियरूपी अश्व राग-द्वेष से प्रेरित होकर धर्मध्यान रूपी रथ को उन्मार्ग की ओर न ले जायें अतः मनरूपी लगाम से दृढ़ करना, राग-द्वेष और मोह को रत्नत्रय रूपी वृत्ति से जीतकर पंचेन्द्रियों को व्रत और उपवासों के प्रहारों से वश में करना तथा निर्मल ध्यान रूप शुद्धोपयोग में तत्पर होना ध्यानशुद्धि है। जैसे वृक्ष को मूल से उखाड़ देने पर पुनः उत्पन्न नहीं होता वैसे ही ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की मूलभूत इन कषायों को क्षमादि धर्मों के द्वारा क्षय करने से वे पुनः उत्पन्न नहीं होती। इन कषायों का क्षय होने पर तथा आर्त और रौद्र ध्यान का त्याग करके धर्मध्यान और शुक्लध्यान में निविष्ट होना ही ध्यानशुद्धि है।[6]

---

१. मूलाचार ९।९२-९४
२. वही, ९।१०५.
३. वही, ९।१९६.
४. वही, ९।९६.
५. वही, ९।९७-१०१, १०३.
६. वही, ९।११३-११७.

इस प्रकार महान् गुणों से युक्त विविध शास्त्रों के सारभूत ये उपर्युक्त दस अनगार भावना के दस सूत्र हैं। जो उद्योगशील संयत इस चर्याविधान और संयम राशि को अपने उपयोग को लगाये रखता है वह ज्ञान, दर्शन और मूलगुणों की सम्पूर्णता को धारण करके उत्तम स्थान को प्राप्त करता है।[1]

अनगार के पर्यायवाची दस नाम—श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतरागी, अनगार, भदन्त, दान्त और यति—ये दस अनगार के ही पर्यायवाची नाम हैं।[2] इनमें से ऋषि, मुनि, यति और अनगार का स्वरूप विवेचन चातुर्वर्ण्य संघ के प्रसंग में किया जा चुका है। अनगार के शेष नामों का स्वरूप वर्णन प्रस्तुत है—

श्रमण :—श्रमण शब्द बहुत प्राचीन और व्यापक है। अनेकों जैनेतर शास्त्रों में श्रमण शब्द से जैन मुनियों का उल्लेख किया गया है।[3] श्रमण शब्द का अर्थ है जो श्रम अर्थात् तपश्चरण करते हैं।[4] समत्व की साधना अथवा जो श्रम अर्थात् तपःसाधना करता है, तप से शरीर को खेद-खिन्न करता है वह श्रमण है।[5] श्रमण शब्द की निष्पत्ति श्रम धातु से हुई है। श्रमयति आत्मानं तपसि असौ श्रमणः —इस विग्रह के अनुसार जो व्यक्ति अपने को तप में लगा दे वह श्रमण है। वट्टकेर ने ऐसे मुनियों को 'उद्यमशील' श्रमण कहा है। और ऐसा ही श्रमण यथाविधि चर्या विधान द्वारा ज्ञान गुण से संयुक्त होता हुआ संयमराशि को ग्रहण करता है और वही दर्शन एवं ज्ञान से परिपूर्ण होकर उत्तमस्थान (मोक्ष) प्राप्त करता है।[6] जो आत्मा और परमात्मा के लिए श्रम करे वह श्रमण है। श्राम्यन्तीति श्रमणः तपस्यन्तीत्यर्थः—जो अपने श्रम से तपःसाधना के महापथ पर बढ़ते हुए मुक्तिलाभ करते हैं उन्हें श्रमण कहा जाता है।[7] प्रवचनसार में कहा है—जो

---

१. मूलाचार ९।२, १२२, १२४.

२. समणोत्ति संजदोत्ति य रिसि मुणि साधुत्ति वीदरागोत्ति।
णामादि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंदोत्ति ॥ मूलाचार ९।१२०.

३. ऋग्वेद १०।९४।११, श्रीमद् भागवत १२।३ १८-१९, ५।३।२०, वृहदारण्यक ४। ३।२२, तैत्ति० आरण्यक, २, ७, , शतपथ ब्राह्मण, १४. ७. १. २२, बौधायन, श्रौतसूत्र, १६, ३०.

४. श्राम्यंति तपस्यन्तीति श्रमणा मुनय : —मूलाचारवृत्ति ४।१.

५. श्राम्यति-तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमणो वाच्यः—सूत्रकृताङ्ग १।१६,१. आ० शीलांककृत टीकापत्र २६३.

६. मूलाचार ९।१२२, १२४.

७. दशवै० हारिभद्रीय टीका पत्र ६८.

शत्रु और बन्धु-बान्धवों में समान है। निंदा और प्रशंसा में समान है। पाषाण और स्वर्ण में समान हैं तथा जीवन और मरण में समान है वही श्रमण है।[१] जो समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखता है वह वास्तव में श्रमण है।[२] आ० कुन्दकुन्द ने कहा है—णच्चदि गायदि न सो समणो—जो नाचने-गाने अर्थात् सांसरिक आनन्द भोग आदि क्रियाओं में रमा रहता है वह श्रमण नहीं हो सकता।[३] इन्होंने भाव प्राभृत में कहा है "भावेण य णिम्ममा समणा"—अर्थात् श्रमण भाव से निर्मम होता है।[४] जिसका मनोयोग शुभ हो वह श्रमण-समण-सुमन-प्रशस्त मन वाला कहलाता। श्रमण शब्द जैन मुनि की कठोर तपस्या का प्रतीक माना गया है।[५] नयचक्र में चारित्र के अन्तर्गत श्रमण का लक्षण कहा है कि जो दर्शन-विशुद्धि, मूल एवं उत्तरगुणों से संयुक्त, सुख-दुख में समभाव रखने वाला तथा आत्म-ध्यान में लीन रहने वाला श्रमण कहलाता है।[६]

चारित्र की दृष्टि से श्रमण के सराग चारित्र और वीतराग चारित्र ये दो भेद हैं। अशुभ राग से रहित, व्रतादिक शुभराग से संयुक्त श्रमण सराग चारित्र-धारी और अशुभ तथा शुभ दोनों प्रकार के राग से रहित श्रमण वीतराग चारित्र-धारी कहलाता है।[७]

श्रमण जीवन में वैराग्य की महत्ता :—श्रमण बिना वैराग्य धारण किये बना ही नहीं जा सकता क्योंकि इस जीवन में वैराग्य को मुख्य भूमिका और महत्ता होती है। रागादि भावों से मुक्त, शरीर संस्कार एवं भोगादि सासारिक विषयों से विरक्त होना वैराग्य है। धैर्य और वैराग्य में तत्पर श्रमण अल्प (स्फुट) सामायिक आदि स्वरूप का सम्यक् अवधारण करके अर्थात् सामायिकादि का थोड़ा सा स्वरूप पढ़कर भी कर्मक्षय कर सकते हैं, किन्तु सब शास्त्र पढ़कर भी वैराग्यहीन श्रमण कर्मक्षय करने में समर्थ नहीं हो सकता।[८] यथार्थ चारित्र का पालन करने वाला थोड़ा शिक्षित (अल्पज्ञ) श्रमण भी बहुश्रुत किन्तु

---

१. समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥ प्रवचनसार ३।४१.

२. समे य जे सव्व पाणभूयेसु, से हु समणे—प्रश्न व्याकरण। २।५.

३. लिङ्ग पाहुड ४-२१.

४. भाव पाहुड १०५.

५क. श्राम्यंतीति श्रमणाः तपस्यन्तीत्यर्थः—दशवै०हारिभद्रीय वृत्ति १।३. पत्र ६८,
ख. श्राम्यन्त्यात्मानं तपोभिरिति श्रमणाः—मूलाचारवृत्ति ९।१२०.

६. नयचक्र ३३०. ७. नयचक्र ३३१.

८. मूलाचार सहित वृत्ति १०।३.

चारित्रहीन श्रमण से श्रेष्ठ माना गया है।[1] वस्तुतः अन्तरंग में वैराग्य उत्पन्न होने और बहुत समय से दीक्षित होने में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि दीक्षित होने में वर्ष गणना नहीं करना चाहिए। मुक्ति के कारण में वर्षों की गिनती (बहुत काल से दीक्षित होना) किसी काम की नहीं। क्योंकि बहुत से मुनि तो तीन रात्रि मात्र तथा कुछ अन्तर्मुहूर्त मात्र में ही वैराग्य-परायण होकर सिद्ध गति प्राप्त कर लेते हैं।[2] रयणसार में ठीक ही कहा है कि वैराग्य के बिना सही अर्थों में त्याग हो ही नहीं सकता।[3] वैराग्यपूर्वक सम्यक् चारित्राचरण सार्थक माना जाता है। इसकी प्राप्ति के निम्न सूत्र हैं—कृत्, कारित और अनुमति रहित भिक्षाग्रहण, अरण्यवास, प्रमाणयुक्त स्वल्पाहार, बहुत न बोलना, दुःखसहन करना, निद्रा जीतना, मैत्रीभाव और वैराग्य को अच्छे मन से धारण करना, अव्यवहारी(लोकव्यवहार रहित) होना, एकत्व भावना और ध्यान में मन एकाग्र रखना, आरम्भ, कषाय, परिग्रह—इनसे रहित होना तथा अप्रमत्तभाव से किसी का संग न करना[4]—ये सूत्र समस्त प्रवचन के सारभूत तथा वैराग्य रूप समय (आत्मा) के सार हैं।[5] जो भाव (अन्तरंग) से विरक्त होता है वही सच्चा विरक्त है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा भी है कि जो साधु वैराग्य में तत्पर होता है वह परद्रव्य से पराङ्मुख रहता है और जो साधु संसार सुख से विरक्त रहता है वह स्वकीय शुद्ध सुख में अनुरक्त होता है।[6] इस प्रकार श्रामण्य की सच्ची सफलता निरन्तर वैराग्य को बढ़ाते हुए मोक्ष प्राप्त करने में है। क्योंकि श्रामण्य का आचरण करते हुए भी जिसकी कषायें उत्कट होती हैं, उसका श्रामण्य गन्ने (इक्षु) के पुष्प की तरह निष्फल मानना चाहिए।[7] अतः 'मैं बहुत वर्षों से दीक्षित हूँ'—इस तरह वर्षों की गणना मत करो क्योंकि यहाँ वर्ष नहीं गिने जाते। वर्षों की गणना मुक्ति का कारण नहीं है।

---

१. मूलाचार १०।६.

२. मा होह वासगणणा ण तत्थ वासाणि परिगणिज्जंति।
बहवो तिरत्तवुत्था सिद्धा धीरा विरग्गपरा समणा॥ मूलाचार १०।७४.

३. णो चागो वेरग्ग विणा····वारिआ भणिदा—रयणसार ७१.

४. मूलाचार १०।४-५.

५. सर्वस्य प्रवचनस्य सारभूतमेतदिति—मूलाचार वृत्ति १०।४.

६. वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य सो होदि।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो॥ मोक्खपाहुड १०१.

७. सामन्नमणु चरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा हुंति।
मन्नामि उच्छुपुप्फं व निप्फलं तस्स सामन्नं॥ चंदगवेज्झं गाथा १४२.

श्रमण के प्रकार :—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार निक्षेपों की अपेक्षा से श्रमण चार प्रकार के बताये गये हैं।[1] किसी वस्तु का 'श्रमण' यह नाम रखना नामश्रमण है। काष्ठ, धातु आदि से श्रमण की आकृति बनाकर उसमें श्रमणत्व की स्थापना करना स्थापना श्रमण है।[2] गुणरहित श्रमण-वेश धारण करना द्रव्य श्रमण है। तथा मूलगुण एवं उत्तरगुण के पालन में तत्पर रहना भावश्रमण है।[3] इन चारों में भावश्रमण ही सच्चे श्रमण हैं, क्योंकि ये ही बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित निरारम्भी तथा भाव से सुसंयत होते हैं।[4]

बुद्धि के चार भेद हैं—पदानुसारी बुद्धि, बीजबुद्धि, संभिन्नबुद्धि और कोष्ठबुद्धि। बुद्धि के इन भेदों के आधार पर श्रमण के भी चार भेद हैं—

१. पदानुसारीबुद्धि श्रमण—द्वादशांग और चौदह पूर्वी में से एक पद प्राप्त करके उसके अनुसरण से संपूर्ण श्रुत जानने वाले श्रमण।

२. बीजबुद्धि श्रमण—सम्पूर्ण श्रुत में से एक बीज-प्रधान अक्षरादि के माध्यम से सम्पूर्ण श्रुत जानने वाले श्रमण।

३. संभिन्नबुद्धि श्रमण—जिसके समक्ष किसी के द्वारा कुछ भी पढ़ा या कहा जाय वह सब पूरा का पूरा उसी तरह ग्रहण करके कह देने वाला श्रमण। चाहे चक्रवर्ती के बड़े सैन्य के बीच कोई वृत्त-आर्या, मात्रा, श्लोक, द्विपद, दंडकादिक पढ़ा जाये या गायनादिक गाया जाय, अथवा यदि वहाँ घोड़ा, बैल, हाथी आदि के जैसे शब्द होंगे अथवा जहाँ कहीं भी जैसे शब्द सुनेगा उन सबको वैसा ही कहने वाला संभिन्न बुद्धि वाला कहलाता है।

४. कोष्ठबुद्धि श्रमण—जैसे अन्नागार में संकर-व्यतिकर रहित विभिन्न प्रकार के धान्यादि बीज बहुत काल तक रखे रहने पर भी नष्ट नहीं होते, और न न्यूनाधिक होते हैं, वैसे ही जिसका वर्ण-पद-वाक्य रूप श्रुतज्ञान बहुत काल बीतने पर भी न नष्ट होता है और न न्यूनाधिक होता है अपितु सम्पूर्ण ही बना रहता है वह कोष्ठबुद्धि श्रमण है।

---

१. णामेण जहा समणो ठावणिए तह य दव्वभावेण।
णिक्खेवो वीह तहा चदुव्विहो होइ णायव्वो॥ मूलाचार १०।११०.

२. वही वृत्ति १०।११०.

३. गुण रहित लिंग-ग्रहणं द्रव्यश्रमणो, मूलगुणोत्तरगुणानुष्ठानप्रवणभावो भाव-श्रमणः —मूलाचार वृत्ति १०।११०.

४. वही १०।१११.

उपर्युक्त श्रमण धारण और ग्रहण में समर्थ, सम्पूर्ण श्रुतज्ञान के परमार्थ को जाननेवाले, अवधि और मनःपर्ययज्ञानी, सात ऋद्धियों से सम्पन्न तथा धीर होते हैं।[1]

संयत :—अनगार के पर्यायवाची में 'संयत' विशेषण का बहुतायत प्रयोग जैन साहित्य में मिलता है। कषाय रहित होना चारित्र है इस दृष्टि से जिस समय जीव उपशान्त (व्रत में स्थित तथा कषायरहित) हो जाता है उसी समय वह 'संयत (चारित्रयुक्त) हो जाता है तथा कषाय के वशीभूत जीव असंयत हो जाता है।[2] अतः चारित्रादि अनुष्ठान में निष्ठ रहने वाला संयत कहलाता है।[3] धवला के अनुसार 'सम्' अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अनुसार जो बहिरंग तथा अंतरंग आस्रवों से विरत है उन्हें संयत कहते हैं।[4]

संयत दो प्रकार के होते हैं—प्रमत्त और अप्रमत्त। सभी मूलगुणों और शीलों (उत्तरगुणों) से युक्त अर्थात् महाव्रती होते हुए भी जो व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद पूर्वक रहता है अतः चित्रल आचारवाला होने से वह प्रमत्तसंयत कहलाता है।[5] तथा जो व्यक्त-अव्यक्त सभी प्रमादों से रहित महाव्रत, मूलगुण और उत्तरगुण से मण्डित, स्व-पर के ज्ञान से युक्त और कषायों का अनुपशामक (अक्षपक) होते हुए भी ध्यान में निरन्तर लीन रहने वाला संयत अप्रमत्त-संयत कहलाता है।[6] संयत को विरत भी कहा जाता है।

साधु :—निर्वाण (मोक्ष) प्राप्ति कराने वाले मूलगुणादिक एवं तपश्चरणादि योगों को जो साधु सर्वकाल अपनी आत्मा से जोड़े अर्थात् आत्मा को उनसे युक्त करे और सभी जीवों पर समता भाव रखे वह साधु कहलाता है।[7] षट्खण्डागम की धवला टीका में कहा है कि जो अनंत ज्ञानादि रूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं। जो पाँच महाव्रतों को धारण करते हैं—

---

१. धारणगहणसमत्था पदाणुसारीय बीयबुद्धीय।
संभिण्णकोट्ठबुद्धी सुयसागरपारया धीरा॥ मूलाचार ९।६५-६६ वृत्तिसहित
२. अकसायं तु चारित्तं कसायवसिओ असंजदो होदि।
उवसमदि जम्हि काले तक्काले संजदो होदि॥ मूलाचार १०।९१
३. संयतं चरित्राद्यनुष्ठानतन्निष्ठम्। मूलाचार वृत्ति ७।९८.
४. धवला १।१, १, १२३ पृ० ३६९.
५. पंचसंग्रह गाथा १।१४.
६. वही, १।१६.
७. णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो।
समा सव्वेसु भूदेसु तह्मा ते सव्वसाधवो॥ मूलाचार ७।११.

तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं, अट्ठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तरगुणों का पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी कहलाते हैं।[१] जो सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र के योग से जो अपवर्ग (मोक्ष) को साधते हैं वे साधु कहलाते हैं।[२] द्रव्यसंग्रह के अनुसार जो दर्शन एवं ज्ञान से समग्र (पूर्ण) मोक्ष के मार्ग स्वरूप एवं नित्य शुद्ध चारित्र की साधना करते हैं,[3] वे साधु हैं। नियमसार में कहा है जो बाह्य व्यापारों से मुक्त है, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप चार आराधनाओं में सदा लीन रहते हैं, वे परिग्रहरहित एवं निर्मोही साधु हैं।[४] मूलाचार के अनुसार भिक्षा, वाक्य, हृदय शुद्धि अर्थात् आहार, वचन और मन—इनकी शुद्धियों से युक्त, नित्य चारित्र में सुस्थित को जिनशासन में साधु कहा है।[५] क्योंकि परिग्रह और कलत्र इन दोनों के त्याग से साधु शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है।[६]

प्रवचनसार में कहा है कि साधु आगमचक्षु है अर्थात् साधु आगमचक्षु से निरखकर अपनी चर्या करते हैं। अतः आगम ज्ञान की महिमा को जानकर श्रमण को सब कुछ आगमचक्षु से ही देखना चाहिए।[७] ज्ञानरूपी नेत्र को प्राप्त करने वाले साधु ज्ञान प्रकाश से सर्वलोक के सारभूत परमार्थ (आत्मस्वरूप) के ज्ञाता-दृष्टा होते हैं। निःशंकित, निर्विचिकित्सा और आत्मबल के अनुकूल पराक्रम (उत्साह) को धारण करते हैं।[८] तप्त लोहे से उत्पन्न चिनगारियों के सदृश दुर्जनों के वचनों तथा पैशून्य (दोषारोपणादि) रूप शस्त्र प्रहारों को सहन करते हुए क्षमागुण की महत्ता को जानने वाले वे साधु महर्षि किसी पर क्रोध नहीं करते।[९] धवला टीका में साधु के महान् व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कहा है कि साधु सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैल के समान भद्रप्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह

---

१. षट्खण्डागम धवला टीका १।१।१ प्रथम पुस्तक पृष्ठ ५२.

२. साधयन्ति सम्यग्दर्शनादियोगैरपवर्गमिति साधवः।
—दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा १४६.

३. द्रव्य संग्रह ५४.

४. नियमसार ७५.

५. ....सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहु। मूलाचार १०।११३.

६. मूलाचार १०।११५.

७. आगमचक्खू साहू—प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति २३४.

८. मूलाचार ९।६२.

९. वही ९।१०१.

गोचरी वृत्ति करने वाले, पवन के समान निःसंग या सब जगह बिना रुकावट के विचरनेवाले, सूर्य के समान तेजस्वी या सकल तत्त्वों के प्रकाशक, उदधि अर्थात् सागर के समान गम्भीर, मन्दराचल अर्थात् सुमेरु-पर्वत के समान परीषह और उपसर्गों के आने पर अकम्प और अडोल रहनेवाले, चन्द्रमा के समान शान्ति-दायक, मणि के समान प्रभापुंजयुक्त, क्षिति के समान सर्व प्रकार की बाधाओं को सहनेवाले, उरग अर्थात् सर्प के समान दूसरे के बनाये हुए अनियत आश्रय-वसतिका आदि में ठहरने वाले, अम्बर अर्थात् आकाश के समान निरालम्बी या निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्ष का अन्वेषण करने वाले साधु होते हैं।[1]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँचों में सकल दुःख क्षय के लिए प्रयत्न करते हैं वे साधु कहलाते हैं।[2] जैसे बाण बनाने वाला पुरुष नेत्रों को किञ्चित् बन्द करके देखकर बाण को सीधा और सरल बनाता है वैसे ही मन को एकाग्र करके साधु को आत्मतत्त्व का चिन्तन करना चाहिए।[3]

वीतरागः—जिनका रागभाव विनष्ट हो चुका है उन्हें वीतराग कहते हैं।[4]

भदन्तः—सर्व कल्याणों को प्राप्त मुनि भदन्त कहलाते हैं।[5]

दान्तः—पाँच इन्द्रियों का निग्रह करने वाला दान्त है।[6]

अनगार के उपर्युक्त पर्यायवाची नामों के अतिरिक्त भी जैन और जैनेतर साहित्य में भिक्षु, योगी, निर्ग्रन्थ, क्षपणक, माहण, निश्चेल, दिग्वास, वात-वसन, विवसन, आर्य तथा अकच्छ (लंगोटी रहित) आदि शब्द भी जैन मुनि को लक्ष्य करके व्यवहृत हुए मिलते हैं।[7]

---

१. सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सुरुवहि-मंदरिंदु-मणी।
खिदि-उरगंबर-सरिसा परम-पय-विमग्गया साहू॥
—धवला टीका १।१।१ गाथा ३३ पृ० ५.

२. दशवै० भाष्य गाथा १, दशवै० हारिभद्रीय टीका पत्र ६३.

३. मूल चार १०।८२.

४. (क) वीतो विनष्टो रागो येषां ते वीतरागाः—मूलाचार वृत्ति ९।१२०.
(ख) वीतोऽपगतो रागः संक्लेश परिणामो यस्मादसौ वीतरागः।
ल० सार ३०४. जी० प्ररुपणा, पृष्ठ ३८४,

५. भदंताःसर्वकल्याणानि प्राप्तवंतः—मूलाचार वृत्ति ९।१२०.

६. दान्ताः पंचेन्द्रियाणां निग्रहपराः—वही।

७. भ० महावीर और उनका तत्वदर्शन (सम्पा० आ० देशभूषण) प० ६६६–६७३.

दशवैकालिक निर्युक्तिकार ने भी श्रमण के उन्नीस पर्यायवाची नामों का उल्लेख किया है—प्रव्रजित, अनगार, पाखण्डी, चरक, तापस, परिव्राजक, समय, निर्ग्रन्थ, संयत, मुक्त, तीर्ण, त्राता, द्रव्य, मुनि, क्षान्त, दान्त, विरत, रुक्ष तथा तीरार्थी।[1]

श्रमण के इन नामों से ज्ञात होता है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु द्वितीय (विक्रम की ५-६ वीं शती) ने अपने समय में प्रचलित प्रायः सभी परम्पराओं के साधुओं के नामों को श्रमण शब्द का पर्यायवाची मानकर उल्लिखित किया है। इनके अतिरिक्त विभिन्न प्रसंगों में मूलाचारकार ने श्रमण को जिन शब्दों से व्यवहृत किया है उनका स्वरूप प्रस्तुत है—

भिक्षु—मूलाचार में अनेक स्थलों पर श्रमण के लिए 'भिक्षु' शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] जो विनय से युक्त मुनि स्वाध्याय करते हुए, पंचेन्द्रियों के विषय से रहित होकर मन, वचन और काय—इन तीन गुप्तियों को धारण करता है तथा एकाग्रमन से शास्त्रार्थ में संलग्न रहता है वह भिक्षु कहलाता है।[3] जो शास्त्र की नीति व मर्यादानुसार तपःसाधना करता हुआ कर्म-बंधनों का भेदन करता है, वह भी भिक्षु है।[4] जो मन की भूख अर्थात् तृष्णा एवं आसक्ति का भेदन करता है वह भाव रूप भिक्षु है।[5] दशवैकालिक में कहा है—जो मुनि वस्त्रादि उपधि में मूर्च्छित नहीं है, अगृद्ध है, अज्ञात कुलों से भिक्षा की एषणा करने वाला है, संयम को असार करने वाले दोषों से रहित है, क्रय-विक्रय और सन्निधि से विरत तथा सर्व संगों (परिग्रहों) से रहित (निर्लेप) है—वह भिक्षु है।[6]

---

१. पव्वइए अणगारे पासंडे चरग तावसे भिक्खू।
परिवाइये य समणे णिग्गंथे संजए मुत्ते॥
तिन्ने ताई दविए मुणी य खंते दंत विरए य।
लूहे तीरट्ठेऽविय हवंति समणस्स नामाइं॥
—दशवै० निर्युक्ति गाथा १५८-१५९.

२. मूलाचार ५।२१३, ७।३९, १०।२०, ५७, ५८, १२३, १२४.

३. सज्झायं कुव्वंतो पंचेन्दियसंवुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एअग्गमणो विणएण समाहि ओ भिक्खू॥
—मूलाचार ५।२१३, १०।७८.

४. यः शास्त्रनीत्या तपसा कर्म भिनत्ति स भिक्षुः।
—दशवै० हारिभद्रीय वृत्ति अ० १०.

५. उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा ३७५.

६. उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे अन्नायउंछंपुल निप्पुलाए।
कयविक्कयसन्निहिओ विरए सव्वसंगावयए य जे स भिक्खू॥ दशवै० १०।१६.

आचारांग में भिक्षु को निम्नलिखित बातों का ज्ञाता माना है—१. कालज्ञ—भिक्षा आदि के काल को जानने वाला, २. बलज्ञ—भिक्षाटन आदि की शक्ति को जानने वाला, ३. मात्रज्ञ—आहारादि ग्राह्य वस्तु की मात्रा को जानने वाला, ४. क्षेत्रज्ञ—भिक्षाचर्या योग्यायोग्य क्षेत्र को जानने वाला, ५. क्षणज्ञ—क्षण अर्थात् उचित समय या अवसर को जानने वाला, ६. विनयज्ञ—भिक्षाचर्या की आचार संहिता को जानने वाला अथवा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और औपचारिक—इन पाँच प्रकार की विनय को जानने वाला, ७. समयज्ञ—अपने और दूसरों के सिद्धान्त को जानने वाला, ८. भावज्ञ—दाता और श्रोता आदि के प्रिय-अप्रिय के भाव अर्थात् अभिप्राय को समझने वाला, ९. परिग्रह पर ममत्त्व नहीं करने वाला, १०. उचित समय पर अनुष्ठान करने वाला तथा ११. अप्रतिज्ञ (भोजन के प्रति संकल्प-विकल्प रहित)।[1] सूत्रकृताङ्ग में भिक्षु के चौदह पर्यायवाची शब्द उल्लिखित हैं—समण (श्रमण), माहण, क्षान्त, दान्त, गुप्त, मुक्त, ऋषि, मुनि, कृती, (परमार्थ पण्डित), विद्वान्, भिक्षु, रूक्ष, तीरार्थी तथा चरण-करण-पारविद्।[2]

योगी—इस शब्द का प्रयोग भी कुछ स्थलों पर मिलता है।[3] ज्ञानसार के अनुसार जिसने कन्दर्प और दर्प का दलन किया है, जो दम्भ तथा काम व्यापार से रहित है जिसका शरीर उग्रतप से दीप्त है, परमार्थतः उसे ही योगी कहते हैं।[4] मूलाचार में कहा है जैसे गिरिराज (सुमेरु पर्वत) पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण से बहने वाली हवाओं से भी चलायमान नहीं होता उसी प्रकार उपसर्ग आदि के समय योगी भी अविचलित रूप से अभीक्ष्ण (निरन्तर) ध्यान (समाधि) को ध्याते हैं।[5] ध्याता (योगी) दो प्रकार के होते हैं। शुद्धात्म भावना की प्रारम्भिक तथा सूक्ष्म सविकल्प अवस्था में जो स्थित हैं वे 'प्रारब्ध योगी' तथा निर्विकल्प अवस्था में स्थित 'निष्पन्न योगी' कहलाते हैं।[6]

---

१. आचारांग प्रथमश्रुतस्कन्ध, द्वितीय अध्ययन, पंचम उद्देश्यक सूत्र ११०, (आयारो पृ० ९२.)

२. सूत्रकृताङ्ग २. १. १५.

३. मूलाचार ९।११८, १०, ४०.

४. ज्ञानसार, श्लोक ४.

५. जह ण चलइ गिरिराजो अवरुत्तरपुव्वदक्खिणे वाए।
एवमचलिदो जोगी अभिक्खणं झायदे झाणं॥ मूलाचार १०।११८.

६. पञ्चास्तिकायवृत्ति १७३ पृ० २५४.

मुण्ड : मुण्ड ऋषि का पर्यायवाची है।[1] मुण्डन शब्द 'खण्डन' करना अर्थात् पांचों इन्द्रियों के विषयों—स्व-व्यापार से निवर्त (अलग) होने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[2] इस दृष्टि से मूलाचार में पाँच इन्द्रिय मुण्डन तथा वचन, शरीर, हस्त, पाद एवं मन—ये पाँच मुण्डन—इस तरह दस प्रकार के मुण्डन बतलाये हैं।[3] इन दस मुण्डधारी को ऋषि कहा गया है।

निर्ग्रन्थ : निर्ग्रन्थ शब्द जैन श्रमणों के लिए प्रयुक्त प्राचीनतम और आगमिक नाम है। शौरसेनी और अर्धमागधी साहित्य में निर्ग्रन्थ शब्द का अधिकाधिक प्रयोग मिलता है। सूत्रकृतांग के अनुसार जो राग-द्वेष रहित होने के कारण अकेला है, बुद्ध है, निराश्रव है, संयत है, समितियों से युक्त है, सुसमाहित है, आत्मवाद को जानने वाला है, विद्वान् है, बाह्य और आभ्यन्तर—दोनों प्रकार से जिसके स्रोत छिन्न हो गए हैं, जो पूजा, सत्कार और लाभ का अर्थी नहीं है केवल धर्मार्थी है, धर्मविद् है, मोक्ष-मार्ग की ओर चल पड़ा है, साम्य का आचरण करता है, दान्त है, बन्धनमुक्त होने योग्य है और निर्मम है—वह निर्ग्रन्थ कहलाता है।[4] 'ग्रन्थ' का अर्थ गांठ रूप परिग्रह है। जो राग-द्वेष रूप आन्तरिक तथा धन-धान्यादि रूप बाह्य परिग्रह से सर्वथा मुक्त होता है वह निर्ग्रन्थ अर्थात् आठ कर्म एवं मिथ्यात्व, अविरति और अशुभयोग—इन सब ग्रन्थों (गांठों) को जीतने वाला तथा सरलभाव से प्रयत्न करने वाला निर्ग्रन्थ कहलाता है।[5] इस प्रकार सम्यग्दृष्टि होने के साथ ही साथ बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। बौद्ध साहित्य में भगवान् महावीर के लिए 'निग्गंठे नायपुत्ते' शब्द से सम्बोधित करते हुए निर्ग्रन्थ शब्द सूचित किया है।[6]

निर्ग्रन्थ के भेद : चारित्र परिणाम की हानि-वृद्धि की अपेक्षा से तथा साधनात्मक योग्यता के आधार पर निर्ग्रन्थ के निम्न पाँच भेद हैं[7]—

---

१. मुण्डानामृषीणां—मूलाचार वृत्ति ५।१७६.

२. मुण्डनं खण्डनं स्वव्यापारान्निवर्तनं ४।१२१.

३. पंचवि इंदियमुण्डा वचमुंडा हत्थपायमणमुंडा।
तणुमुंडेण वि सहिया दस मुंडा वण्णिया समए॥ मूलाचार ३।१२१.

४. सूत्रकृतांग १।१६।६.

५. (क) निग्गंथाणं ति विप्पमुक्कत्ता निरूविज्जति—दशवै० अगस्त्य० चूर्णि पृ. ५९.
(ख) प्रशमरति प्रकरण (उमास्वाति) १४२. (ग) निर्गतो ग्रन्थाद् निर्ग्रन्थः—हारिभद्रीय दशवै० वृत्ति, दशम अध्ययन.

६. पालि दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त.

७. स्थानाङ्ग सूत्र ५।३।४४५, तत्त्वार्थसूत्र ९।४६.

(१) **पुलाक**—उत्तरगुणों की भावना रहित ये निर्ग्रन्थ किसी क्षेत्र-काल के आश्रय से मूलगुणों में कदाचित् दोष उत्पन्न होने से परिपूर्णता प्राप्त नहीं कर पाते। ये सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र के धारक और पीत, पद्म तथा शुक्ल—इन तीन शुभ लेश्याओं से युक्त होते हैं। ये मरकर बारहवें स्वर्ग तक जाते हैं।

(२) **बकुश**—ये मूलगुणों की दृष्टि से निर्दोष किन्तु वीतरागता सूचक उपकरणों, शिष्यों एवं शरीर से ममत्वयुक्त होते हैं। इनको छहों लेश्यायें होती हैं। इनका चारित्र चित्रवर्ण होता है। सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्रयुक्त होते हैं। चारित्र की दृष्टि से ये पुलाक से श्रेष्ठ हैं इसीलिए ये मरकर अधिक से अधिक सोलहवें स्वर्ग तक जाते है।

(३) **कुशील**—प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील—ये कुशील निर्ग्रन्थ के दो भेद हैं। प्रथम जिनके मूलगुण और उत्तरगुण दोनों पूर्ण हैं किन्तु कभी उत्तरगुणों में दोष लग जाते हैं। इनमें सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र होता है। पांच समिति, तीन गुप्तियाँ तथा छहों लेश्यायें होती हैं। ये भी मरकर सोलहवें स्वर्ग तक जाते हैं। तथा कषाय कुशील से तात्पर्य जिन्होंने अन्य कषायों के उदय को रोक लिया है किन्तु संज्वलन कषाय को नहीं रोक पाये हैं। वैसे ये प्रमादरहित, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्परायधारी होते हैं। परिहार विशुद्धि संयमी निर्ग्रन्थ में कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यायें तथा सूक्ष्मसाम्पराय संयमी को केवल एक शुक्ल लेश्या होती है। ये मरकर सर्वार्थसिद्धि तक जाते हैं।

(४) **निर्ग्रन्थ**—जिनकी मोह और कषाय की ग्रन्थियाँ क्षीण हो चुकी हैं अर्थात् जल की लकीर के सदृश अन्तर्मुहूर्त के बाद ही जिन्हें केवलज्ञान प्रकट होने वाला है। इनमें मोहनीय कर्म का तो उदय नहीं होता, पर शेष घातिया कर्म का उदय होता है। ये यथाख्यात-संयम के धारी तथा शुक्ल लेश्या युक्त होते हैं। ये मरकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त जाते हैं।

(५) **स्नातक**—जिनके समग्र घतियाकर्म का क्षय हो चुका है। सयोगकेवली तथा अयोगकेवली—ये इनके दो भेद हैं। ये यथाख्यातसंयम के धारी तथा शुक्ल लेश्यायुक्त होते हैं। इन्हें नियम से मुक्ति प्राप्त होती है।

उपर्युक्त पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ सभी तीर्थंकरों के धर्मशासन में होते हैं। चारित्रगण के क्रमिक विकास और क्रमप्रकर्ष की दृष्टि से उपर्युक्त पांच निर्ग्रन्थों की गणना की है किन्तु चारित्र रूप परिणामों की न्यनाधिकता के कारण भेद

होने पर भी नैगम और संग्रह आदि द्रव्यार्थिक नयों की अपेक्षा उपर्युक्त सभी निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। सम्यग्दर्शन और नग्नत्व की अपेक्षा ये सब समान हैं।

इस प्रकार श्रमण, संयत आदि अनगार के दस पर्यायवाची नामों की दृष्टि से यह अलग-अलग विवेचन यहाँ किया गया। तत्त्वार्थसूत्र में वैयावृत्य के दस भेदों के आधार पर भी साधुओं के आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ—इन भेदों की गणना की है[1] इनमें जिसके निमित्त से व्रतों का आचरण करते हैं वह **आचार्य** कहलाता है। मोक्ष के लिए पास जाकर जिससे शास्त्र पढ़ते हैं वह **उपाध्याय** है। मासोपवास आदि तपों का अनुष्ठान करने वाला **तपस्वी** कहलाता है। श्रुतज्ञान के शिक्षण में तत्पर और सतत् व्रतभावना में निपुण **शैक्ष** है। जिनका शरीर रोगाक्रान्त है वह **ग्लान** कहलाता है। स्थविर साधुओं की परम्परा को **गण** कहते हैं। दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य परम्परा को **कुल** कहते हैं। चार प्रकार के (चातुर्वर्ण्य) मुनियों के समूह को **संघ** कहते हैं। जिस श्रमण को दीक्षा लिये बहुत समय बीत गया है उसे **साधु** कहते हैं। तथा लोक मान्य (सम्मत) साधु को अर्थात् लोक में जो विद्वान्, वाग्मी, महाकुलीन आदि रूप में प्रसिद्ध हो वह **मनोज्ञ** कहलाता है। ऐसे लोगों का संघ में रहना प्रवचनगौरव का कारण होता है अथवा संस्कार सहित, सुसंस्कृत असंयत सम्यग्दृष्टि को भी मनाज्ञ कहते हैं।[2]

आगन्तुक श्रमण:—वे अतिथि श्रमण आगन्तुक कहलाते हैं जो उच्च ज्ञान प्राप्ति के लिए अथवा सल्लेखनार्थ अथवा विशेष साधना आदि के निमित्त अपने गुरु, गणाचार्य अथवा संघ आदि से सविधि आज्ञा लेकर उस विधि के विशेषज्ञ दूसरे आचार्य के संघ या गण में जाते हैं। ऐसे श्रमण दूसरे गण के आचार्य और उनके श्रमणों के लिए आगन्तुक (अतिथि) श्रमण हैं। वसुनन्दि के अनुसार संयम, तप, ज्ञान और ध्यान युक्त जो साधु विहार करते हुए आ रहे हैं वे आगन्तुक हैं। ऐसे ही साधु यदि कहीं ठहरे हुए हैं तो वे वास्तव्य कहलाते हैं।[3] मूलाचार में ऐसे ही आगन्तुक श्रमण का विशद विवेचन आचार्य वट्टकेर ने प्रस्तुत किया है। इससे गणस्थ (वास्तव्य) श्रमण और आचार्य तथा आगन्तुक श्रमण—इन सबके पारस्परिक कर्त्तव्य तथा व्यवहार आदि से सम्बन्धित अच्छी जानकारी प्राप्त होती है।

---

१. आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्—तत्त्वार्थसूत्र ९।२४.
२. तत्त्वार्थ वार्तिक ९।२४।३-१४, सर्वार्थसिद्धि ९।२४।८६६, अन० धर्मा० ७।७८.
३. पादोष्णवास्तव्यानां आगन्तुकस्वस्थानस्थितानाम्।
—मूलाचार वृत्ति सहित, ४।१४१.

उद्देश्य—प्राचीन काल से ही श्रमण संघ की यह विशेषता रही है कि उच्च ज्ञान प्राप्ति के लिए तथा विशेष साधना आदि के लिए एक गण से दूसरे गण में श्रमणों का आवागमन होता रहा है। एक गण के आचार्य और श्रमण दूसरे गण से आज्ञापूर्वक आये आगन्तुक श्रमण को पूरे आदर-सत्कार एवं उदारतापूर्वक अपने गण में लक्ष्यपूर्ति तक रहने देते थे, किन्तु गण में आने के बाद सर्वप्रथम कुछ समय तक उसके शुद्धाचरण की परीक्षा लेते थे। तभी उसे स्वीकार करते और ज्ञान, साधना आदि के लक्ष्य प्राप्ति में उसे पूरा सहयोग देते थे।

विधि—कोई सर्वसमर्थ श्रमण जब अपने गुरु के सम्पूर्ण श्रुत को पढ़ चुकता है और जब उसे आत्मोत्कर्ष के लिए विशेष साधना करने या विविध सम्यक् शास्त्रों का उच्च ज्ञान प्राप्त करने की तीव्र पिपासा जाग्रत हो तब धीरता, वीरता, विद्या, बल और उत्साह आदि सभी गुणों से युक्त साधु अपने गुरु के पास आकर, विनयपूर्वक, मन-वचन-कायपूर्वक प्रणाम करके प्रयत्न पूर्वक उनसे अन्य संघ में जाने की आज्ञा मांगता हुआ कहता है—"हे गुरो! आपके चरणों की कृपा से अब मैं अन्य आयतन (ज्ञानोपयुक्त आचार्य) को प्राप्त करना चाहता हूँ।" इस प्रकार वह इस वषय में एक बार ही नहीं, तीन, पाँच अथवा छह बार तक पूछता है। क्योंकि बार-बार पूछने से विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने में अपना उत्साह तथा आचार्य के प्रति विशेष विनय प्रकट होता है। वह मुनि अपने पूज्य गुरु से पूछकर और आज्ञा प्राप्तकर अपने सहित चार, तीन अथवा दो मुनि साथ लेकर वहाँ से विहार करता है। अकेले जाना उचित नहीं होता।[1]

जैन श्रमण परम्परा में संयमी जीवन का सार एवं अन्तिम लक्ष्य होता है समाधिमरण (सल्लेखना) पूर्वक मरण की प्राप्ति। क्योंकि समस्त दुर्लभ पदार्थों से दुर्लभतम संयम है, उसकी सफलता समाधिमरण के आराधन से होती है। अतः जब श्रमण अपने संयमी जीवन के अन्त में देखता है कि इन्द्रियाँ शिथिल हो गई हैं और जीवन का अन्त निकट है तब वह समाधिमरण ग्रहण की इच्छा अपने आचार्य से व्यक्त करता है और अपने गण में इस इच्छा की निर्विघ्न पूर्ति में

---

१. कोई सव्वसमत्थो सगुरुसुदं सव्वमागमित्ताणं।
विणएणुवक्कमित्ता पुच्छइ सगुरुं पयत्तेण॥
तुज्झं पादपसाएण अण्णमिच्छामि गंतुमायदणं।
तिण्णि व पंच व छा वा पुच्छाओ एत्थ सो कुणइ॥
एवं आपुच्छित्ता सगवरगुरुणा विसज्जिओ संतो।
अप्पचउत्थो तदिओ बिदिओ वासो तदो णीदो॥
—मूलाचार ४।१४५-१४७.

द्रव्य, क्षेत्र आदि की दृष्टि से कुछ प्रतिकूलता देखता है तब वह गुरु की आज्ञा से दूसरे गण में अनुकूल वातावरण और योग्य आचार्य के सानिध्य में निर्विघ्न समाधिमरण सम्पन्न करने जा सकता है।

दूसरे गण में उस गण के आचार्य आगन्तुक श्रमण की भलीभाँति परीक्षा करते हैं। क्षपक की प्रकृति और उसका उत्तम प्रयोजन जानकर वे आचार्य अपने गणस्थ श्रमणों से उसके समाधिमरण निर्विघ्न सम्पन्न कराने के विषय में मन्त्रणा करते हैं और उससे पूर्ण सहयोग प्राप्ति की सम्मति पूछते हैं। क्योंकि समाधिमरण काल में विशेष परिचर्या को तथा परिणामों में निरन्तर विशुद्धता एवं दृढ़ता आदि की विशेष आवश्यकता होती है अतः गणस्थ श्रमणों की इन सबके विषय में पूर्ण सहमति आवश्यक है और इस प्रकार आगन्तुक श्रमण को अपने लक्ष्य प्राप्ति में पूर्ण सफलता मिलती है।

श्वेताम्बर परम्परा के व्यवहारभाष्य में कहा है कि अन्य गण से आये हुए क्षीण आचार वाले साधु-साध्वियों को बिना उनकी परिशुद्धि किये अपने गण में नहीं मिलाना चाहिए। और न उनके साथ आहार आदि ही करना चाहिए। जो साधु-साध्वी अपने दोषों को खुले दिल से आचार्य के सामने रख दें तथा यथोचित प्रायश्चित्त करके पुनः वैसा कृत्य न करने की प्रतिज्ञा करें उन्हीं के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।[1]

इस तरह उच्च एवं विशेष साधना, ज्ञान प्राप्ति एवं शास्त्र अध्ययन के अतिरिक्त समाधिमरण के उद्देश्य से भी पर-गण अथवा संघ में जाने की प्राचीन परम्परा रही है। किन्तु मूलाचारकार ने यहाँ विशेष रूप में ज्ञान-ध्यान आदि की विशिष्ट साधना के उद्देश्य से ही एक गण से दूसरे गण में जाने हेतु 'आगन्तुक श्रमण' का वर्णन किया है।

आगन्तुक श्रमण जब दूसरे गण प्रस्थान करता था तो इस प्रवास के बीच यदि उसे सचित्त, अचित्त तथा सचित्ताचित्त (मिश्र) द्रव्य प्राप्त होता है अर्थात् मार्ग में यदि उसे छात्र, शिष्य आदि तथा शास्त्र आदि और पुस्तक सहित शिष्य की प्राप्ति होती है अथवा श्रमण के ग्रहण योग्य कोई द्रव्य प्राप्त होता है तो जिस गण में वह ज्ञान प्राप्ति हेतु जा रहा है वहाँ के आचार्य उस द्रव्य को ग्रहण करने के योग्य होता है।[2] चूँकि श्रमण मार्ग के मध्यवर्ती नगरों,

---

१. व्यवहारभाष्य : षष्ठविभाग (जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग ३, पृ० २६६).

२. जंतेणंतरलद्धं सच्चित्तामिस्सयं दव्वं।
तस्स य सो आइरिओ अरिहदि एवं गुणो सोवि ॥मूलाचार ४।१५७.

ग्रामों से विहार करता हुआ वह दूसरे गण तक पहुँचता है। इस बीच संयम द्वारा आत्मकल्याण के इच्छुक कुछ शिष्य भी बन सकते हैं। तथा उसे शास्त्र, आदि भी प्राप्त हो सकते हैं। ऐसी अवस्था में वह श्रमण इन द्रव्यों को उस आचार्य के अधिकार के अन्तर्गत समझकर उन्हें सौंपकर ग्रहण करने या ग्रहण न करने की उनसे आज्ञा प्राप्त करता है। क्योंकि आचार्य ही उन द्रव्यादिक को स्वीकृत करने या न करने का अधिकारी होता है।

परगणस्थ श्रमण एवं आचार्य के कर्त्तव्य—आगन्तुक श्रमण जब अपने गण से दूसरे गण पहुँचते हैं और परगणस्थ श्रमण आगन्तुक श्रमण को आते हुए देखते हैं तब आचार्य सहित गणस्थ सभी श्रमण उनके प्रति सम्मान, वात्सल्य, जिन-आज्ञा, संग्रह (ग्रहण) एवं उन्हें प्रणाम करने हेतु तत्काल खड़े हो जाते हैं।[1] और सात कदम आगे बढ़कर उसके प्रति आदर और हर्ष भाव व्यक्त करके परस्पर प्रणाम करते हैं। उसे अपने साथ लाकर योग्य करणीय कार्यों को सम्पन्न करके सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय आदि के निर्विघ्न आचरण की कुशलता के प्रश्न पूछते हैं।[2]

श्रमण जब कभी कालान्तर में परस्पर मिलते हैं तो मूलगुण तथा रत्नत्रय आदि के निर्विघ्न पालन आदि के विषय में ही कुशलता के प्रश्न पूछते हैं, अन्य सांसारिक प्रश्न नहीं। आगन्तुक श्रमण जिस दिन गण में आते हैं, उस दिन उन्हें विश्राम करने देना चाहिए।[3] तथा नियम से तीन दिन तक उसे आवश्यक क्रियाओं, संस्तर, मलमूत्र-विसर्जन स्थल आदि तथा स्वाध्याय आदि के विषय में जानकारी एवं इन सभी कार्यों में परीक्षा हेतु उनके साथ रहकर उन्हें साहाय्य देना चाहिए।[4] जिससे उसे नये गण में आने पर आवश्यक क्रियाओं आदि को सम्पन्न करने में कोई कठिनाई न हो। तथा वह अपने को इस स्थान के योग्य आचरण वाला (अनुकूल) बना सके। साथ में रहने से उसकी प्रवृत्ति कैसी है? यह भी ज्ञात हो जाता है।

---

१. आएसं एज्जंतं सहसा दट्ठूण संजदा सव्वे।
वच्छल्लाणासंगहपणमणहेदुं समुट्ठंति ॥वही ४।१६०.

२. पच्चुग्गमणं किच्चा सत्तपदं अण्णमण्णपणमं च।
पाहुणकरणीयकदे तिरयणसंपुच्छणं कुज्जा ॥मूलाचार ४।१६१.

३. विस्समिदो तद्दिवसं—वही, ४।१६५, भ० आ० ४१८.

४. आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडओ दु दायव्वो।
किरियासंथारादिसु सहवासपरिक्खणाहेऊं ॥वही ४।१६२.

आगन्तुक श्रमण की परीक्षा:—आगन्तुक और गणस्थ श्रमण परस्पर में प्रतिलेखन, भिक्षा, स्वाध्याय और प्रतिक्रमण तथा तेरह क्रियाओं (पंचमहाव्रत, पंचसमिति और तीन गुप्ति) आदि के ज्ञान एवं इनके आचरण की विशुद्धता आदि की परीक्षा करते हैं।[१] सामायिक आदि षडावश्यक, प्रतिलेखन अर्थात् नेत्रों से जीवों को देखकर या सूक्ष्म जन्तु न भी दिखें तो पिच्छी द्वारा प्रमार्जन करने, परस्पर बातचीत, पुस्तकादि वस्तुयें उठाने-रखने, स्वाध्याय, भिक्षाग्रहण तथा गमनागमन आदि क्रियाओं के सम्पन्न करने की विधि से ही परस्पर की प्रमाद रहित या प्रमाद सहित प्रवृत्ति एवं चारित्र की परीक्षा तथा जानकारी प्राप्त करते हैं।[२]

आगन्तुक श्रमण की उपर्युक्त परीक्षा आदि के बाद आचरण की विशुद्धता जानकर वह दूसरे या तीसरे दिन आचार्य (गणाचार्य) के समक्ष विनयपूर्वक प्रस्तुत होकर विद्या-अध्ययन आदि अपने आगमन का प्रयोजन निवेदित करता है।[३] वे गणाचार्य भी संग्रह, अनुग्रह (शिक्षा देने) में कुशल, सूत्रों का अर्थ करने में विशारद, विस्तृत कीर्ति वाले, षट् आवश्यक आदि क्रियाओं के आचरण में तत्पर, ग्रहण करने योग्य तथा उपादेय वचन बोलने वाले, गम्भीर, दुर्द्धर्ष, शूर, धर्म प्रभावना करने वाले, क्षमागुण में पृथ्वी के सदृश, सौम्यता में चन्द्रमा के समान तथा निर्मलता में समुद्र के समान होते हैं। इन गुणों से विशिष्ट आचार्य को वह आगन्तुक मुनि क्रम से प्राप्त करता है।[४]

आगन्तुक श्रमण के आगमन का प्रयोजन सुनकर आचार्य उसका सम्पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए उससे नाम, कुल, गुरु, दीक्षा के दिन, वर्षावास, आने की दिशा, शिक्षा, प्रतिक्रमण आदि से सम्बन्धित कई प्रश्न पूछते हैं। तुम्हारा नाम क्या है, तुम्हारी कुल एवं गुरु परम्परा क्या है? दीक्षा गुरु कौन है? तथा दीक्षा अवधि कितनी है? इत्यादि के विषय में जानकारी प्राप्त करते हैं। उससे यह भी पूछते हैं कि तुमने वर्षावास कहाँ सम्पन्न किया? इस समय कहाँ से या किस दिशा से आ रहे हो? तुमने श्रुत की कितनी शिक्षा प्राप्त की है? कितने प्रतिक्रमण हुए हैं? अर्थात् तुमने चातुर्मासिक, वार्षिक, पाक्षिक आदि में से आजतक कितने प्रतिक्रमण किये हैं और कितने नहीं किये?[५] इस तरह के अनेक प्रश्न पूछने के

---

१. मूलाचार ४।१६३.
२. वही, ४।१६४.
३. वही, ४।१६५.
४. वही, ४।१५८-१५९.
५. आगंतुकणामकुलं गुरुदिक्खामाणवरिसवासं च ।
आगमणदिसासिक्खापडिकमणादी य गुरुपुच्छा ।। वही, ४।१६६ वृत्ति सहित

बाद यदि आचार्य उस आगन्तुक श्रमण को सभी क्रियाओं और आचरण में विशुद्ध, व्रतों का निरतिचार पालन करने वाला, नित्य उत्साही, विनीत, बुद्धिमान समझ लेते हैं तब अपने श्रुतज्ञान के सामर्थ्य के अनुसार उसे अपना इष्ट कहते हैं अर्थात् वह जो अध्ययन करना चाहता है उसे अपने ज्ञान की सामर्थ्य के अनुसार पढ़ाना चाहिए अथवा उसे संघ में स्वीकार करके अपनी बुद्धि के अनुरूप अध्ययन कराना चाहिए।[1] यदि वह अन्य रूप है, अयोग्य है अर्थात् मुनिव्रत और चारित्र में अशुद्ध है तथा देव वन्दना आदि क्रियाओं में भी अयोग्य है तब उसे यथायोग्य छेदोपस्थापना प्रायश्चित्त देकर श्रमण पद में स्थिर करना चाहिए। अर्थात् उसकी दीक्षा का एक हिस्सा अथवा आधी दीक्षा या पूरी दीक्षा का तीन भाग छेद (समाप्त) करके पुनः उपस्थापना करना चाहिए। यदि सर्वथा व्रतों से भ्रष्ट है तो पुनः व्रत अर्थात् दीक्षा देना चाहिए। यदि वह मुनि छेद या उपस्थापना प्रायश्चित्त स्वीकार नहीं करे तब वह आगन्तुक श्रमण सर्वथा त्याज्य ही है। फिर भी यदि संघस्थ आचार्य मोहवश उस अयोग्य शिष्य को ग्रहण करते हैं तो वे आचार्य स्वयं ही प्रायश्चित्त के पात्र हो जाते हैं।[2] क्योंकि जो आचार्य शिष्यों के दोष देखकर उन दोषों के निवारण का उपाय नहीं करते, अपितु जिह्वा से मात्र मधुर भाषण बोलते हैं वे भद्र नहीं कहला सकते।[3]

श्वेताम्बर परम्परा के व्यवहार सूत्र में कहा है कि—कारण विशेष अथवा प्रयोजन विशेष से अन्य गच्छ से निकलकर आने वाला साधु अथवा साध्वी अखण्डित आचार से युक्त, शबल दोष (व्रतादिक से सम्बन्धित विविध दोष) से रहित तथा क्रोधादि से असंक्लिष्ट होना चाहिए। अपने दोषों की आलोचना एवं प्रतिक्रमण करने वाला तथा लगे हुए दोष का प्रायश्चित्त करने वाला हो तो उसके साथ समानता का व्यवहार करना कल्प्य है, अन्यथा नहीं।[4]

इस तरह उपर्युक्त विधि सम्पन्न होने पर वह आगन्तुक श्रमण योग्य होने पर विधिपूर्वक शिष्य रूप में ग्रहण किया जाता है।

---

१. जदिचरणकरणसुद्धो णिच्चुज्जुत्तो विणीदमेधावी।
तस्सिट्ठं कधिदव्वं सगसुदसत्तीए भणिऊण ॥ मूलाचार ४।१६७.

२. जदि इदरो सोऽजोग्गो छेदमुवट्ठावणं च कादव्वं।
जदि णेच्छदि छंडेज्जो अह गिण्हदि सोवि छेदरिहो ॥ वही, ४।१६८.

३. भगवती आराधना ४८१.

४. व्यवहारसूत्र षष्ठ उद्देश्य (जैन सा० का बृ० इतिहास भाग २ पृ० २६५.)

परगण में आगन्तुक श्रमण के कर्त्तव्य :—गण में शिष्य रूप में रहने की स्वीकृति के बाद वह अपने श्रमण धर्म का पालन करते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सम्यक् शुद्धि करके प्रयत्न मन से विनय और उपचार सहित होकर सूत्र और उसके अर्थ के अध्ययन में तत्पर होता है। किन्तु सूत्रार्थ के अध्ययन में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव शुद्धि का विशेष रूप से ध्यान रखना अपेक्षित है। इनकी शुद्धि के अभाव में लोभवश सूत्रार्थ के अध्ययन से असमाधि अर्थात् मन की एकाग्रता या सम्यक्त्वादि का नाश, अस्वाध्याय, व्याधि, कलह और वियोग अर्थात् आचार्य और शिष्य का सम्बन्ध-विच्छेद जैसे महान् दोष तक उपस्थित हो सकते हैं।[1] यह शुद्धि मात्र शास्त्रों के पढ़ने में ही नहीं की जाती अपितु जीवदया के निमित्त भी शुद्धि अत्यन्त अपेक्षित है। इसके लिए हाथ की रेखा दिखने योग्य प्रकाश में अर्थात् जितने प्रकाश में नेत्रों से हाथ की रेखाएँ स्पष्ट देखीं जा सकें उतना प्रकाश होने पर पूर्वाह्न और अपराह्न—दोनों समय में प्रयत्न पूर्वक संस्तर और निवास-स्थान आदि का पिच्छिका आदि से प्रतिलेखन अवश्य कर लेना चाहिए।[2] क्योंकि अन्धकार में प्रतिलेखन करने से जीव हिंसा होती है।

आगन्तुक श्रमण को नये गण में आकर आचार्य से पूछे बिना अपनी इच्छानुसार कोई कार्य नहीं करना चाहिए। उद्भ्रामक आदि ग्रामचर्या (अर्थात् किसी ग्राम में जाते समय, आहारार्थ गमन करने में, मल-मूत्र आदि त्याग करने के लिए जाते समय) तथा वृक्षमूल योग, आतापन योग आदि उत्तरयोग (प्रकृष्ट योग) प्रारम्भ करते समय उस श्रमण को इच्छाकार पूर्वक अर्थात् विनय पूर्वक आचार्य से पूछकर ही करना चाहिए। जैसे वह आगन्तुक श्रमण पहले अपने संघ में चर्या आदि कार्यों में विनयपूर्वक अपने आचार्य से पूछकर कार्य करता था, उसी प्रकार उसे यहाँ भी आचार्य के अभिप्राय के अनुसार उनसे आज्ञा लेकर ही इन सब कार्यों को करना चाहिए।[3]

आगन्तुक श्रमण को गच्छ में रहने वाले क्षीण शक्तिक, गुरु (शिक्षा, दीक्षा तथा उपदेश आदि के दाता अथवा तप या ज्ञान में ज्येष्ठ), बाल (नवदीक्षित), वृद्ध, और शैक्ष (शास्त्राध्ययन में तत्पर) मुनियों की अपनी शक्ति के अनुसार

१. मूलाचार ४।१६९-१७१.

२. न केवल शास्त्रपठनिमित्तं शुद्धिः क्रियते तेन किन्तु जीवदयानिमित्तं चेति-
संथारवासयाणं पाणीलेहाहिं दंसणुज्जोवे।
जत्तेणुभये काले पडिलेहा होदि कायव्वा ॥ मूलाचार ४।१७२.

३. वही ४।१७३.

प्रयत्नपूर्वक यथायोग्य वैयावृत्ति करना चाहिए। दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक प्रतिक्रमण तथा ऋषियों की वन्दना, देव वन्दना, स्वाध्याय आदि क्रियाओं को गणस्थ श्रमणों के साथ मिलकर करना चाहिए।[1]

मन, वचन और काय के योगों से जिस गण, गच्छ या संघ में जब व्रत-आदि में कोई अपराध हो जाये, मिथ्याकार पूर्वक वहीं उसको दूर कर लेना चाहिए। आर्यिकाओं के आने के समय मुनि को अकेले नहीं बैठना चाहिए उसी प्रकार उनके साथ बिना प्रयोजन वार्तालाप नहीं करना चाहिए।[2]

इस प्रकार आगन्तुक श्रमण को उपर्युक्त सभी कर्तव्य यथाविधि करना चाहिए। तथा जो गणधर की इच्छा हो उन सबका पालन आगन्तुक तथा गणस्थ शेष सभी श्रमणों को करना चाहिए।[3]

जैन परम्परा के उपर्युक्त आगन्तुक श्रमण के समान ही बौद्ध परम्परा में भिक्षुओं को एक विहार से दूसरे विहार में आने-जाने का भी विधान था। इस परम्परा में ऐसे भिक्षु को आगन्तुक भिक्षु तथा संवस्थ भिक्षु को आवासिक भिक्षु कहा जाता था। आगन्तुक भिक्षु जब दूसरे विहार पहुँचता है तब उसे शय्या, शौचालय आदि के विषय में जानकारी प्राप्त कर लेने का प्रथमतः विधान है। किन घरों में उसे भिक्षा के लिए जाना चाहिए, कुटी से बाहर जाने और वापिस आने के लिए कौन सा समय नियत है—इन सब बातों को तथा यदि भिक्षुओं ने आपस में और भी कोई नियम निश्चित किये हों तो उनको भी पूछकर उसे जान लेना चाहिए। इसी प्रकार आवासिक और गमिक—विहार छोड़कर जाने वाले भिक्षुओं के भी कर्तव्य बौद्ध परम्परा में बताये गये हैं।[4]

पाप-श्रमण :

श्रमण-धर्म में दीक्षित होने के बाद साधक को अपनी मर्यादानुकूल आचरण करना चाहिए। आचरण में कभी दोष उत्पन्न हो जाय तो प्रायश्चित्तादि द्वारा दूर कर लेना चाहिए तथा पुनः वैसा अतिचार उत्पन्न न हो ऐसा प्रयत्न करते रहना चाहिए। किन्तु जो स्वच्छन्द आचरण करते हैं, आचार्य की उपेक्षा करते हुए धर्मविरुद्ध चलते हैं, वैसा आचरण शास्त्रविहित कहकर अपने शरीरादि

---

१. मूलाचार ४।१७४-१७५.

२. वही ४।१७६-१७७.

३. वही ४।१८६.

४. उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास—पृ० १८२ (डा० नलिनाक्षदत्त एवं कृष्णदत्त वाजपेयी).

पोषण में प्रवृत्त हो जाते हैं ऐसे मुनि पापश्रमण कहलाते हैं। वस्तुतः दर्शन, ज्ञान और चारित्र से भ्रष्ट श्रमण अपने द्वारा आचरित आचार की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं। वे अहिंसा और संयम की कसौटी को छोड़कर सुविधा को आचार की कसौटी के रूप में मान्य करते हैं। इसीलिए मूलाचारकार ने ऐसे श्रमण को घोड़े की लीद के समान अन्दर से कुथित (निंद्य) भावयुक्त तथा बाह्य में बगुले की तरह करण और चरण से युक्त बतलाया है।[1]

जो आचार्य (गुरु)-कुल अथवा श्रमणसंघ छोड़कर स्वेच्छया विहार करता है, स्वेच्छापूर्वक जैसा चाहे बोलता है, आचार्यादि के उपदेश को नहीं सुनता और न उनकी आज्ञा ही ग्रहण करता है वह पापश्रमण है।[2] पहले शिष्यत्व न करके आचार्यत्व धारण करने की जल्दी करता है—ऐसा पूर्वापर विवेकशून्य ढोंढाचार्य मदोन्मत्त हाथी के समान निरंकुश भ्रमण करता है। अपने को आचार्य कहने-कहलाने वाले, आगमज्ञान से रहित ये पापश्रमण अपना तो विनाश करते ही हैं साथ ही कुत्सित उपदेशादि के द्वारा दूसरों का भी विनाश करते हैं।[3] आहार, उपधि और शय्या आदि का बिना प्रतिलेखन (शोधन) किये हो प्रयोग करने वाले ये धर्मरहित-श्रामण्य तुच्छ (समण पोल्लो) श्रमण मूल-स्थान नामक दोष से युक्त होते हैं।[4] पृथ्वीकाय तथा तदाश्रित जीवों पर भी श्रद्धा नहीं करते। अतः ये दीर्घसंसारी मुनि-लिंग में स्थित रहकर भी दुष्टमति वाले होते हैं।[5] बृहत्कल्पसूत्र के अनुसार जो दुष्ट, मूढ़ एवं व्युद्ग्राहित (विपरीत बोध में दृढ़) दुःसंज्ञाप्य अर्थात् कठिनाई से समझने योग्य हैं, वे उपदेश, प्रव्रज्या आदि के अधिकारी नहीं होते।[6]

---

१. घोडयलद्दिसमाणस्स बाहिर बगणिहुदकरणचरणस्स।
अब्भंतरम्हि कुहिदस्स तस्स दु किं बज्झजोगेहिं।। मूलाचार १०।७३.

२. आयरियकुलं मुच्चा विहरदि सगणो य जो दु एगागी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु।। वही १०।६८.

३. आयरियत्तण तुरिओ पुव्वं सिस्सत्तणं अकाऊणं।
हिंडई ढुंढायरिओ णिरंकुसो मत्तहत्थिव्व।। वही १०।६९.

४. ....मूलट्ठाणं पत्तो भुवणेसु हवे समणपोल्लो।।
—मूला० १०।२५, भग० आ० २८८.

५. वही, १०।१२०.

६. बृहत्कल्पसूत्र चतुर्थ उद्देश, सूत्र १२, १३.

पाप-श्रमण के भेद : मूलाचार में पाप श्रमण के पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसन्न और मृगचरित्र—ये पाँच भेद किये गये हैं। ये सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र में अयुक्त तथा धर्मादि में हर्ष रहित होते हैं।[1]

(१) **पार्श्वस्थ**—संयत के गुणों के पार्श्व में स्थित रहने वाले श्रमण पार्श्वस्थ कहलाते हैं[2]। अर्थात् अतिचार रहित संयम मार्ग का स्वरूप जानकर भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करता, परन्तु संयम मार्ग के पास ही रहता है। इस तरह एकान्त रूप से जो असंयमी नहीं है किन्तु निरतिचार संयम का पालन नहीं करने वाले श्रमण पार्श्वस्थ कहलाते हैं। इनमें मोह, आसक्ति और संग्रह की प्रवृत्ति अधिक होती है। वस्तुतः कुछ साधु इन्द्रियरूपी चोरों और कषायरूपी हिंसक जीवों के द्वारा पकड़े जाकर साधु संघ के मार्ग को छोड़कर साधुओं के पार्श्ववर्ती हो जाते हैं। साधु संघ के पार्श्व(दूर)वर्ती होने से इन्हें पासत्थ या पार्श्वस्थ कहते हैं। जैसे विषैले काँटों से बिंधे हुए मनुष्य अटवी में अकेले पड़े हुए दुःख पाते हैं वैसे ही मिथ्यात्व, माया और निदान शल्य रूपी काँटों से बींधे हुए वे पार्श्वस्थ मुनि दुःख पाते हैं। ये संघ का मार्ग त्यागकर ऐसे मुनियों के पास जाते हैं जो चारित्र से भ्रष्ट होकर पार्श्वस्थ मुनियों का आचरण करते हैं। ऐसे मुनि इन्द्रिय, कषाय और विषयों के कारण राग-द्वेष रूप परिणामों और क्रोधादि परिणामों के तीव्र होने से चारित्र को तृण के समान मानते हैं।[3]

फलटन से प्रकाशित मूलाचार में कहा है—जो वसतिकाओं में आसक्त है, जो उपकरणों को बनाता रहता है, जो मुनियों के मार्ग का दूर से आश्रय करता है, उसे पार्श्वस्थ कहते हैं।[4]

पार्श्वस्थ श्रमणों का उल्लेख दिगम्बर और श्वेताम्बर—इन दोनों ही परम्पराओं के साहित्य में बहुतायत मिलता है। 'पार्श्वस्थ' शब्द से यह भी प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर के समय और उनके बाद तक भी भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमण विद्यमान होगें। जिनमें कुछ श्रमण कालान्तर में शिथिला-

---

१. ....विरदो पासत्थपणगं वा....मूलाचार ७।९५.
पासत्थो य कुसीलो संसत्तोसण्ण मिगचरित्तो य।
दंसणणाणचरित्ते अणिउत्ता मंदसवेगा ॥ मूलाचार ७।९६.

२. संयत गुणेभ्यः पार्श्वे अभ्यासे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः —मूलाचारवृत्ति ७।९६.

३. भ० आ० १२८८-१२९४.

४. वसहीसु य पडिवद्धो अहवा उवयरणकारओ भणिओ।
पासत्थो समणाणं पासत्थो णाम सो होई ॥ कुन्द० मूलाचार ७.

चारी हो गये हों अथवा दोनों परम्पराओं के आचार में अन्तर हो अतः ऐसे पार्श्वस्थ श्रमणों को हेय समझकर उनसे दूर रहने को कहा गया हो तो कोई असम्भव नहीं। इस विषय में शोध-खोज की बहुत सम्भावनायें हैं।

(२) **कुशील**—कुत्सित आचरण युक्त स्वभाव वाले श्रमण कुशील कहलाते हैं।[१] साधु संघ से दूर होकर वे मुनि कुशील प्रतिसेवना रूप वन में उन्मार्ग से दौड़ते हुए आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूप संज्ञा-नदी में गिरकर कष्टरूपी प्रवाह में पड़कर डूब जाते हैं। पहले वे उत्तरगुण छोड़ते हैं फिर मूलगुण और सम्यक्त्व से भी भ्रष्ट होकर संसार में भ्रमण करते हैं। वे दूर से ही साधु संग को त्यागकर कुमार्ग में दौड़ते हैं और आगमोक्त कुशील मुनि के दोषों को करते हैं।[२] ये इन्द्रिय-विषय एवं कषाय के तीव्र परिणामों से युक्त होते हैं तथा व्रत, गुण और शील तथा चारित्र को तृणवत् समझते हुए स्वयं का एवं संघ का अपयश फैलाने में कुशल होते हैं।

(३) **संसक्त**—असंयतों के गुणों में आसक्त श्रमण संसक्त हैं। आहारादि में गृद्धि, वैद्य, मंत्र, ज्योतिष आदि में प्रतिबद्ध एवं राजादि की सेवा में तत्पर रहने वाले संसक्त श्रमण कहलाते हैं।[३] ये नट की तरह आचरण करते हैं। चारित्र-प्रिय के सहवास में चारित्रप्रिय तथा चारित्रहीन (अप्रिय) के सहवास में भी वैसे ही बन जाते हैं। ये मात्र इन्द्रिय-विषयों में आसक्त, गृहस्थों से राग तथा स्त्रियों के प्रति संक्लेश परिणामयुक्त होते हैं।[४]

(४) **अवसन्न (अपसंज्ञक)**—इन्द्रिय और कषायरूप तीव्र परिणाम होने से सुखपूर्वक समाधि में लगा जो साधु तेरह प्रकार की क्रियाओं में आलसी होकर चारित्र भ्रष्ट साधुओं की क्रिया करने लगता है ऐसा साधु अवसन्न कहलाता है।[५] सम्यग्ज्ञानादिक जिनके विनष्ट हो गये हैं, जिनवचनों को न जानकर चारित्रादि से भ्रष्ट, तेरह क्रियाओं को करने में आलसी तथा मन से सांसारिक सुख को चाहने वाले श्रमण अवसन्न कहलाते हैं।[६] जैसे कीचड़ में फँसे हुए तथा मार्ग से

---

१. कुत्सितं शीलं आचरणं स्वभावो वा यस्यासौ कुशीलः।
—मूलाचार वृत्ति ७।९६.

२. भ० आ० १२९७-१३००.

३. सम्यगसंयतगुणेष्वाशक्तः संसक्तः—वही, ७।९६.

४. भ० आ० वि० टी० गा० १९५०, पृ० १७२२.

५. भ० आ० १२८९.

६. मूलाचार वृत्ति ७।९६.

भ्रष्ट पथिक अवसन्न कहलाते हैं वैसे ही अशुद्ध चारित्र युक्त संयत मार्ग से भ्रमित श्रमण भाव अवसन्न कहे जाते हैं।[1]

(५) **मृगचरित्र**—मृग (पशु) के सदृश आचरण करने वाले श्रमण मृग-चरित्र कहे जाते हैं। ये मुनि आचार्य के उपदेश का परित्याग करके स्वछन्द और एकाकी भ्रमण करते हैं, जिन वचनों में दूषण लगाकर तपःसूत्रों के प्रति अविनीत और धृति से रहित हो जाते हैं।[2] ऐसे साधु-संघ छोड़कर, आगम विरुद्ध और पूर्वाचार्यों द्वारा न कहे गये आचारों की इच्छानुसार कल्पना करने में प्रवीण होते हैं।[3]

कल्प-परिमंथु साधु :

स्थानांगसूत्र में कल्प अर्थात् श्रमणाचार के छह पलिमंथु या परिमंथु (प्रतिपक्षी) बनाये गये हैं।[4] श्रमणाचार का घात करने वाले साधु कल्प-परिमंथु कहलाते हैं। इसके छह भेद इस प्रकार हैं—

१. कौकुचित—स्थान, शरीर और भाषा की अपेक्षा कुत्सित चेष्टा (चपलता) करने वाले संयम के घातक साधु कौकुचित कहलाते हैं। स्थान कौकुचित से तात्पर्य है जो साधु बैठे या खड़े हुए दीवार या खम्भे आदि पर गिरते हैं, अपने स्थान से इधर-उधर घूमते हैं यन्त्र और नर्तक की भाँति अपने शरीर को नचाते हैं। शरीर कौकुचित का अर्थ है हाथ-पैर आदि अङ्गों को निष्प्रयोजन हिलाना। भाषा कौकुचित का अर्थ है सीटी बजाना, लोगों के हास्य हेतु विचित्र प्रकार से बोलना, अनेक प्रकार की आवाजें करना और भिन्न-भिन्न देशों की भाषा बोलना।

२. मौखरिक—वाचाल साधु सत्य वचन के परिमंथु होते हैं।

३. चक्षुलोलुप—दृष्टि आसक्त अर्थात् जो अच्छी तरह देखकर नहीं चलते वे साधु ईर्या समिति के परिमन्थु हैं।

४. तितिणिक—आहार, उपधि आदि प्राप्त न होने पर खिन्न होकर बकवास करना तितिणिक है। ऐसा करने वाले साधु खिन्नतावश अनेषणीय आहार भी ले लेते हैं। चिड़चिड़े स्वभाव वाला साधु भिक्षा की एषणा का परिमंथु है।

५. इच्छालोभिक—अति इच्छा और लोभ होने के कारण जो अधिक उपधि का संग्रह करते हैं वे इच्छालोभिक साधु मुक्तिमार्ग के परिमंथु हैं।

---

१. भ० आ० वि० टी० १९५०, पृ० १७२१.

२. मूलाचार वृत्ति ७।९६.

३. भ० आ० १३१०.

४. छ कप्पस्स पलिमंथु पण्णत्ता....स्थानांग ६।१०२.

६. भिध्यानिदानकरण—भिध्या अर्थात् लोभ तथा निदान अर्थात् प्रार्थना या अभिलाषा। इस प्रकार इन्द्र, चक्रवर्ती आदि की ऋद्धि का निदान आर्त्त-ध्यान का पोषण देती है अतः ऐसा करने वाला साधु मोक्षमार्ग का परिमंथु है।

सच्चे संयमी श्रमण को इन छह कल्प परिमंथु के विषय में सावधान रहना आवश्यक है।

इस तरह पापश्रमण सुख-स्वभावी, सम्यग्दर्शनादि गुणों के प्रति निरुत्साही, तृष्णा, मोह, अज्ञान और परिग्रह में लिप्त तथा पाप-शास्त्रों का आदर करने वाले होते हैं।[1] अतः इनके सम्पर्क से संयमी श्रमण को दूर रहना चाहिए। मूलाचारकार ने कहा भी है : असंवृत्ती, नीच और लौकिक-अलौकिक क्रियाओं के ज्ञान से रहित श्रमण यदि चिरप्रवर्जित भी है तो उसकी संगति का तुरन्त त्याग कर देना चाहिए।[2] वैयावृत्य तथा विनय इनसे रहित, दुःश्रुति के पोषक, वैराग्य रहित, दंभी, निन्दक, पैशुन्यभावयुक्त, मारण-उच्चाटनादि पापसूत्रों का सेवन करने वाले तथा हिंसादि आरम्भ युक्त श्रमण भले ही चिरप्रवर्जित हो पर यत्नाचारी श्रमण को इनके आश्रय से दूर ही रहना चाहिए।[3] क्योंकि जैसे आम वृक्ष दुराश्रय से निम्बत्व (कड़वेपन) को प्राप्त हो जाता है वैसे ही आलसी तथा समाचारहीन श्रमण के आश्रय से अच्छे श्रमण भी दूषित हो जाते हैं।[4] ऐसे श्रमणों को नगर की गन्दी नालियों में बहने वाले मैले पानी के समान वचन रूप मैल (कचरा) धारण करने वाला कहा है।[5] शिवार्य ने कहा है कि जो श्रमण चारित्र भ्रष्ट साधुओं की क्रिया करता है वह असंयमी होकर साधुओं के संघ से बाहर हो जाता है और मोक्ष मार्ग से भी दूर हो जाता है। जैसे बकरी का बच्चा सुगन्धित तेल भी पिये फिर भी अपनी पूर्व दुर्गन्ध को नहीं छोड़ता उसी प्रकार दीक्षा लेकर भी अर्थात् असंयम को त्यागने पर भी कोई-कोई इन्द्रिय और कषाय रूप दुर्गन्ध को नहीं छोड़ पाते।[6] शील से दरिद्र मुनि सदा अनन्त दुःख पाते हैं। जैसे बहुत परिवार वाला दरिद्र मनुष्य तीव्र दुःख पाता है।[7] इस तरह दर्शन,

---

१. भ० आ० १९५२-१९५७.

२. चिरपव्वइदं पि मुणी अयुट्ठधम्मं असंपुडं णोचं।
लोइय लोगुत्तरियं अयाणमाणं विवज्जेज्ज ॥ मूलाचार १०।६७.

३. वही, १०।६५-६६. ४. वही, १०।७०.

५. बिहेदव्वं णिच्चं दुज्जणवयणा पलोट्टजिब्भस्स।
वरणयरणिग्गम पिव वयणकयारं वहंतस्स ॥ वही, १०।७१.

६. भ० आ० १२८८, १३०१.

७. तो ते सील दारीद्दा दुक्खमणंतं सदा वि पावंति।
बहुपरियणो दरिद्दो पावदि तिव्वं जधा दुक्खं ॥भ० आ० १३०३.

ज्ञान, चारित्र और तप की विनय से ये सदा ही पार्श्वस्थ (दूर) रहते हैं। ये गुणधारियों के छिद्र देखने वाले होने के कारण वन्दनीय नहीं हैं।[1]

आवश्यक नियुंक्ति के अनुसार द्रव्यलिंगधारी होकर भी ये भावलिंग विहीन पाँच पापश्रमण वन्दनीय नहीं है। वन्दनीय तो केवल वे ही श्रमण होते हैं जो शुद्ध चाँदी तथा शुद्ध मोहर वाले सिक्के के समान द्रव्य और भाव की विशुद्धता से सम्पन्न होते हैं।[2] इसीलिए भगवती आराधनाकार ने कहा भी है कि चारित्र-हीन लाख संख्या युक्त मुनियों से एक सुशीलमुनि श्रेष्ठ है क्योंकि सुशील मुनीश्वर के आश्रय से शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्रादि गुणों की वृद्धि अवश्य होती है।[3]

श्रमण के उपकरण :

श्रमणों के दैनिक जीवन में संयम की रक्षार्थ, आवश्यक क्रियाओं को सम्पन्न करने एवं शुद्धि के लिए तथा स्वाध्याय आदि के लिए पिच्छी, कमण्डलु तथा शास्त्र आदि उपकरणों की आवश्यकता होती है।[4] वट्टकेर ने आचेलक्य (नग्नत्व), केशलुञ्चन, शरीरसंस्कार-त्याग और प्रतिलेखन—ये चार लिङ्गकल्प (श्रमणों के चिह्न) माने हैं।[5] प्रवचनसार में जिनमार्ग में मूलतः यथाजातरूप (नग्नत्व), गुरु के वचन (पूज्य गुरुओं के वचनानुसार प्रवृत्ति), विनय (गुणों एवं गुणाधिक मुनियों के प्रति विनय भाव) तथा सूत्रों का अध्ययन—ये चार उपकरण बतलाये गये हैं।[6] पिच्छिका, कमण्डलु आदि बाह्य उपकरण हैं।

मूलाचार तथा वृत्तिकार ने आदाननिक्षेपण समिति के प्रसंग में उपधि (उपकरण) को चार भागों में विभाजित किया है—(१) ज्ञानोपधि (शास्त्र, पुस्तकादि), (२) संयमोपधि (प्राणी दया के निमित्त पिच्छिका), (३) शौचोपधि (मल-मूत्रादि की शुद्धि के लिए प्रासुक जल रखने हेतु कमण्डलु) तथा (४) श्रामण्य योग्य अन्य उपधि (पुस्तक, संस्तर)।[7] कुन्दकुन्द ने कहा है कि उपधि

---

१. मूलाचार ७।९७.

२. आवश्यक निर्युक्ति, ११३८.

३. भ० आ०, ३५४.

४. उपकरणस्यपुस्तिकाकुंडिकापिच्छिकादिकस्य—मूलाचार वृत्ति ५।१७७.

५. अच्चेलक्कं लोचो वोसट्ठसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विधो होदि णायव्वो ॥ मूलाचार १०।१७.

६. उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ॥ प्रवचनसार २२५.

७. (क) मूलाचार १।१४.
(ख) संजमणाणुवकरणे अण्णुवकरणे च जायणे अण्णे—मूलाचार ४।१३१.

भले ही अल्प हो तथापि जो अनिंदित, असंयतजनों से अप्रार्थनीय (अनिच्छनीय), तथा मूर्च्छा आदि उत्पन्न करने वाली न हो—इन विशेषताओं से युक्त उपधि ही श्रमण को ग्रहण करना चाहिए।[1] श्रमणों के पास निम्नलिखित उपकरण होते हैं—

१. **संयमोपकरण** (पिच्छिका) :—संयम के उपकरण के रूप में श्रमण के पास प्रतिलेखन हेतु पिच्छिका होना अनिवार्य है।[2] प्रतिलेखन (पडिलेहण) का अर्थ है शोधन, सम्मार्जन, निरीक्षण निरूपण, विचार करना अथवा देखना है। अतः सूक्ष्म जीवों की रक्षार्थ, तथा दया पालन हेतु बाह्य उपकरण के रूप में पिच्छिका आवश्यक है। अचेलकत्व आदि की तरह पिच्छिका को भी श्रामण्य का बाह्य चिह्न माना है।[3] दशवैकालिक[4] तथा इसकी टीकाओं में भी श्रमण को वायु-कायिक जीवों की रक्षार्थ मोरपंख और मोर-पिच्छी से हवा न करने का निर्देश है। यहाँ मयूर-पिच्छ से तात्पर्य है मोर-पिच्छों का अथवा अन्य पिच्छ का समूह—एक साथ बंधा हुआ गुच्छ।[5]

कार्तिक मास में मयूर अपने पंखों को छोड़ देते हैं। अतः पिच्छी स्वयं पतित मयूर पंखों से निर्मित होती है।[6] वनों में विचरते समय वृक्षों के नीचे पुष्कल परिमाण में स्वयं पतित मयूर के पंख अनायास ही मिल जाते हैं और उन्हीं पंखों को इकट्ठा करके, उनके लवभाग (अग्रभाग) से पिच्छी बना लेते हैं।[7] पिच्छी मात्र प्रतिलेखन का ही कार्य नहीं करती अपितु सामायिक, वन्दना, प्रतिक्रमण,

---

१. अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं॥ प्रवचनसार २२३.

२. प्रतिलेखनं मयूरपिच्छग्रहणं—मूलाचार वृत्ति १०।१०४.

३. मूलाचार १०।२३.

४. दशवैकालिक ४।२१.

५. (क) पेहुणं मयूरादिपिच्छम्, पेहुण हस्तः—तत्समूहः। दशवै० हारिभद्रीय-टीका पत्र १५४.

(ख) पेहुणं मोरपिच्छगं वा अण्णं किंचि वा तारिसं पिच्छं॥ पिहुणाहत्थओ सोरिग-कुच्चओ, गिद्धपिच्छाणि वा एगओ बद्धाणि—दशवै० जिनदास चूर्णि पृ० १५६.

६. मत्वेति कार्तिके मासि कार्यं सत्प्रतिलेखनं।
स्वयं पतित पिच्छानां लिंगं चिह्नं च योगिभिः॥ मूलाचार प्रदीप ९।३६.

७. पिच्छि-कमण्डलु,—मुनिश्री विद्यानन्द जी, पृष्ठ ९५.

प्रायश्चित्त, आहारकाल, गमन आदि अनेक प्रसंगों में संयम और विनय के उपकरण का कार्य करती है ।

मयूर पिच्छी में पाँच गुण हैं जिनके कारण वह प्रशंसनीय मानी जाती है— धूलि को ग्रहण नहीं करना, स्वेद (पसीने) से मलिन नहीं होना, मृदुता, सुकुमारता और लघुता (हल्कापन) ।[1] इस प्रकार धूलि, रज और पसीने को ग्रहण न करने से सदा ही प्रतिलेखन करने में स्वभाविक सरलता बनी रहती है । स्पर्श में अति कोमल होने से सूक्ष्म जीवों के भी घात की सम्भावना नहीं रहती । नेत्रों पर घुमाने से भी बाधा नहीं होती । नमनशील होने से उसके तन्तु शीघ्र झुक जाते हैं इससे प्रतिलेखन के समय जीवों को बाधा नहीं होती तथा यह बहुत हल्की है अतः सहज रूप में सदा हाथ में रह सकती है ।

प्रतिलेखन के समय मयूरपिच्छी को नेत्रों में फिराने से पीड़ा नहीं होती। अतः सूक्ष्मत्त्व आदि गुणों से युक्त ऐसी ही पिच्छी ग्रहण करना चाहिए ।[2]

भद्रबाहुक्रियासार में पिच्छी को मोक्ष का साधक कारण बताया है और कहा है जो मुनि अपने पास पिच्छी नहीं रखता वह कायोत्सर्ग के समय स्थिति, उत्थान और गमनागमन में अपनी दैहिक क्रियाओं से सूक्ष्म जीवों का नाश करता है । इस हिंसा दोष से कर्मबंध होता है । अतः बिना पिच्छी धारण के संयम सध नहीं सकता और उसे निर्वाण भी प्राप्त नहीं होता ।[3] द्वीन्द्रियादि अनेक सूक्ष्मजीव ऐसे होते हैं जिन्हें चक्षु द्वारा नहीं देखा जा सकता अथवा देखने में बड़ी कठिनाई हो सकती है अतः इन सब जीवों की रक्षार्थ श्रमण प्रतिलेखन ग्रहण करते हैं ।[4] कायोत्सर्ग में, खड़े होने में, संक्रमण (गमन काल) में, कमण्डलु आदि के ग्रहण में, पुस्तकादि के रखने में, शयन में, बैठने में, तथा आहार ग्रहण के बाद उच्छिष्ट के परिमार्जन आदि प्रसंगों में प्रयत्नपूर्वक प्रतिलेखन करना चाहिए क्योंकि यह श्रमणपने का चिह्न है ।[5] ओघनिर्युक्ति में भी कहा है कि

---

१. रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च ।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ।।मूलाचार १०।१९, भ० आ० ९८.

२ ण य होदि णयणपीडा अच्छि पि भमाडिदे दु पडिलेहे ।
तो सुहुमादी लहुओ पडिलेहो होदि कायव्वो ।। मूलाचार १०।२२.

३. ठाणणिसिज्जागमणे जीवाणं हंति अप्पणो देहं ।
दसकत्तरिठाण गदं णिपिच्छे णत्थि णिव्वाणं ।। भद्रबाहु क्रियासार २५.

४. सुहुमा हु संति पाणा दुप्पेक्खा अक्खिणो अगेज्झा हु ।
तम्हा जोवदयाए पडिलिहणं धारए भिक्खू ।। मूलाचार १०।२०.

५. ठाणे चंकमणादाणे णिक्खेवे सयणआसण पयत्ते ।
पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ लिंगं च होइ सपक्खे ।। वही १०।२३.

रखी हुई वस्तु को लेना, किसी वस्तु को नीचे रखना, कायोत्सर्ग करना या खड़ा होना, बैठना, सोना और शरीर को सिकोड़ना—ये सभी कार्य प्रमार्जन पूर्वक करणीय होते हैं। प्रतिलेखन का साधन मुनि का चिह्न भी कहलाता है।[1]

प्रतिलेखन का मूल उद्देश्य भी अहिंसा महाव्रत का विशुद्ध रूप में परिपालन है। अतः प्रतिलेखन में बहुत सावधानी अपेक्षित है। उत्तराध्ययन में कहा है—प्रतिलेखन करते समय जो परस्पर वार्तालाप करता है, जनपद कथा करता है, प्रत्याख्यान करता है, दूसरों को पढ़ाता तथा स्वयं पढ़ता है—प्रतिलेखना में प्रमत्त वह मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस् काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन षटकायिक जीवों का विराधक (हिंसा करने वाला) होता है।[2]

रात्रि में सोते समय मल-मूत्रादि विसर्जन के लिए जब श्रमण बीच में उठते हैं और पुनः जाकर लेटते हैं या करवट बदलते हैं तो पहले शरीर और शयनासन का पिच्छिका से प्रमार्जन कर लेना चाहिए, ऐसा न करने पर निश्चित हो उससे जीव हिंसा होगी।[3] नीतिसार ग्रंथ में कहा है—छाया में, आतप में अथवा गमन के समय, छाया से आतप में आने तथा आतप से छाया में जाने से पूर्व एवं एक स्थान से दूसरे स्थान गमनागमन करने से पूर्व मृदुतापूर्वक पिच्छी से शरीर का आलेखन कर लेना चाहिए।[4] बिना पिच्छी के कोई भी श्रमण सात कदम गमन करता है तो उससे उत्पन्न दोष कायोत्सर्ग करने से शुद्ध होता है, एक कोस गमन से उत्पन्न दोष के लिए एक उपवास तथा इससे ऊपर प्रतिकोश दूना-दूना उपवास करके प्रायश्चित्त होता है।[5] अतः बैठने, उठने, गमन करने, हाथ-पैर के संकोचन-प्रसारण, उत्तानशयन, करवट बदलने आदि शारीरिक क्रियाओं में पिच्छिका से अपने शरीर का प्रमार्जन कर लेना चाहिए।[6]

पिच्छिका से जीवदया का पालन होता है। लोगों में 'यति' (श्रमण) विषयक विश्वास उत्पन्न करने का यह चिह्न है। यह प्राचीन मुनियों का प्रतिबिम्ब रूप है।[7] अर्थात् पिच्छी धारण करने से प्राचीन मुनियों का जो रूप था

---

१. आयाणे निक्खेवे ठाणनिसीयणतुयट्टसंकोए।
पुव्वं पमज्जणट्ठा लिंगट्ठा चेव रयहरणं।। ओघनियुक्ति ७१०.

२. उत्तराध्ययन २६।२९,३०.

३. वही, १०।२१ ४. नीतिसार, ४३.

५. सप्तापादेषु निष्पिच्छः कायोत्सर्गाद्विशुद्धयति।
गव्यतिगमने शुद्धिमुपवासं समश्नुते ॥ चारित्रसार ४४, प्रायश्चित्त-चूलिका ४४.

६. भगवती आराधना ९६। ७. वही, ९७।

उसी की छाया वर्तमान मुनियों में आ जाती है। जो श्रमण पिच्छी नहीं रखते वह मूढ़चारित्र श्रमण है।[1]

रोगादि होने पर श्रमण पिच्छी सहित अंजलिबद्ध होकर जुड़ी हुई अंजलि को वक्ष के मध्य में स्थित करके पर्यंकासन, वीरासन अथवा सुखासन से बैठकर मन को एकाग्र कर स्वाध्याय तथा वन्दना कर सकता है।[2] स्वस्थ-अवस्था में यदि श्रमण उसे मस्तक पर छायार्थ उत्तोलित करता है, अपने वक्षस्थल को आच्छादित करता है और मस्तक पर उससे आवरण बनाता है तो उसे प्रायश्चित्त-कल्याणक देने का विधान है। रूग्णदशा में इन सबको दोष नहीं माना गया है।[3] आचार्य की वन्दना के समय 'मैं वन्दना करता हूँ' ऐसा कहते हुए पश्चर्धशय्या से अवस्थित होकर मस्तक से पिच्छी को स्पर्श कराते हुए वन्दना करना चाहिए।[4] जब आचार्य प्रतिवन्दन करें तब उन्हें सपिच्छाञ्जलि होना चाहिए।[5] तथा जब श्रमण को प्रायश्चित्त दिया जाता है तब उनको पिच्छी का लोमाग्रभाग आगे रखना चाहिए। यह उसके प्रायश्चित्तीय होने का प्रतीक है।[6]

इस प्रकार संयमोपकरण में मयूरपिच्छिका का उपयोग प्राचीन काल से ही मुनि करते आ रहे हैं क्योंकि यह दया पालन का चिह्न है। सर्प, बिच्छू आदि जीव-जन्तु मयूर-पिच्छी के पास नहीं आ पाते। मयूर पंख मुक्ताफल, सीप आदि की तरह पवित्र माने जाते हैं अतः उनसे निर्मित पिच्छिका स्वभावतः पवित्र होती है। सकलकीर्ति के अनुसार प्रतिलेखन के लिए मयूरपिच्छि धारण श्रेष्ठता की बात है। तीर्थंकर परमदेव ने इसे सूक्ष्म जीवों की रक्षात्मक होने से दयोपकरण के रूप में योगियों के लिए प्रशंसनीय कहा हैं।[7]

२. शौचोपकरण (कमण्डलु)—प्रतिलेखन के लिए श्रमण अपने पास जहाँ पिच्छी अनिवार्य रूप में रखते हैं उसी तरह शुद्धि के लिए कमण्डलु भी आवश्यक होता है। पाणि-पाद-प्रक्षालन तथा मल-मूत्र त्याग के बाद शुद्धि के लिए[8] कमण्डलु में प्रासुक जल रखते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने आदान-निक्षेपण समिति के प्रसंग में विशुद्धि के लिए शौचोपकरण के रूप में कमण्डलु का उल्लेख किया है।[9]

---

१. भद्रबाहु क्रियाकोश ७-९. २. चारित्रसार ४३.
३. प्रायश्चित्त समुच्चय ७५. ४. आचारसार ६१.
५. वही ६२. ६. पिच्छि कमण्डलु—पृष्ठ ९७.
७. मूलाचार प्रदीप ९।३२.
८. शौचस्य पुरीषादिमलापहरणस्योपधिरुपकरणं शौचोपधिर्मूत्रपुरीषादि प्रक्षालन निमित्तं कुंडिकादिद्रव्यम्—मूलाचार वृत्ति १।१४.
९. पोथइकमंडलाइं गहण विसग्गेसु····नियमसार ५४.

वसुनन्दि ने प्रतिलेखन करने योग्य प्रसंगों में कमण्डलु के लिए 'कुण्डिका' शब्द का प्रयोग किया है और कहा है कि कुण्डिका ग्रहण करते समय पिच्छी से प्रतिलेखन अवश्य कर लेना चाहिए।[1]

वस्तुतः पिच्छी अप्रतिलेखन गुण से युक्त है किन्तु कमण्डलु में सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति होती रहती है अतः उनके निराकरणार्थ एक पक्ष में उसे बाहर-भीतर से प्रक्षालित करते रहना चाहिए। यदि एक पखवाड़े के पश्चात् भी कमण्डलु का सम्प्रोक्षण (शोधन) नहीं किया गया तो प्रतिक्रमण तथा उपवास करना होगा।[2]

३. **ज्ञानोपकरण**:—श्रमणों के दैनिक जीवन में स्वाध्याय का विशिष्ट स्थान है। स्वाध्याय एक तप भी है तथा साधु के पाँच आचारों में से ज्ञानाचार का अंग भी है। स्वाध्याय के चार काल हैं, जिनमें मुनि को सदा स्वाध्याय में निरत रहना चाहिए। विविध शास्त्रों का अध्ययन, मनन और चिन्तन उनके दैनिक जीवन का प्रमुख अंग है। इसके लिए विविध शास्त्रों, पुस्तकों की आवश्यकता होती है जिनके द्वारा अध्ययन-अध्यापन, ज्ञानवर्धन, लेखन तथा उसका प्रसार आदि कार्य करते रहते हैं।[3] मूलाचार में पुस्तक (पुच्छय) आदि को ज्ञानोपकारक कहा है।[4]

४. **अन्य उपकरण**—भूमि पर शयन करना श्रमणों का एक मूलगुण है। वे प्रासुक भूमि-प्रदेश में अपने शरीर प्रमाण अल्प संस्तर पर प्रच्छन्न एवं एकान्त स्थान में धनुषाकार रूप में एक पार्श्व (करवट) से सोते हैं।[5] इस दृष्टि से अन्य उपकरण से तात्पर्य 'अल्प संस्तर' है। वसुनन्दि के अनुसार जिसमें बहु-संयम का विघात न हो वह तृणमय, काष्ठमय एवं शिलामय भूमि प्रदेश अल्पसंस्तर है।[6]

इस तरह श्रमणों को संयम, शुद्धि हेतु अत्यावश्यक एवं कम से कम उपकरणों के उपयोग का विधान है। वस्तुतः राग की मात्रा में जितनी कमी होती जाती है उतनी ही मात्रा में वीतरागता की वृद्धि होती जाती है। अतः दिगम्बर परम्परा

---

१. आदाने कुंडिकादि ग्रहणे—वही १०।२३, ४।१३८.

२. शश्वद विशोधयेत् साधु पक्षे पक्षे कमण्डलुम्।
तदशोधयतो देयं सोपस्थानोपवासनम्॥
—प्रायश्चित्त समुच्चय ८८ (पिच्छि कमण्डलु पृ० १०३).

३. ज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्योपधिरुपकरणं ज्ञानोपधिर्ज्ञाननिमित्तं पुस्तकादि—मूलाचार-वृत्ति १।१४.

४. पुच्छयं-पुस्तकं ज्ञानोपकारकम्—वही ४।१३८, १४०.

५. फासुयभूमिपएसे अप्पसंथारिदम्हि पच्छण्णे।
दंडंधणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एवपासेण॥ मूलाचार १।३२.

६. मूलाचारवृत्ति १।३२.

के श्रमणों को पिच्छी और कमण्डलु इन दो उपकरणों के ही रखने का विधान है। पुस्तक, शास्त्रादि ज्ञानोपकरण का भी अपना विशेष महत्त्व है किन्तु इन्हें सदा अपने साथ रखने में बहुविध कठिनाइयाँ रहती हैं। इसके लिए ग्रामानुग्राम विहार के समय श्रमण इन्हें शास्त्रभण्डारों, जिनालयों तथा स्वाध्याय परायण श्रावकों से प्राप्त करके उपयोग करते हैं।

श्रमण संघ : एक पुनरावलोकन :—

अत्यन्त सुदूर काल से ही श्रमण संघ का स्वरूप एक सुसंगठित रूप में हमारे सामने आता है। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से अध्यात्म साधना का संघीयकरण भगवान् पार्श्व के समय से या उससे पूर्व ही हो चुका था, फिर भी भगवान् महावीर ने तत्कालीन अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए श्रमण संघ का जो पल्लवन किया वह अप्रतिम था। यही कारण है कि मूलाचार के समय श्रमण संघ का रूप गण, गच्छ, कुल आदि रूप में होते हुए भी आत्मनियंत्रित, अनुशासित एवं सुव्यवस्थित रूप में दिखाई देता है। आचार्य, उपाध्याय आदि पदों की व्यवस्था उसके सुव्यवस्थित संचालन और ज्ञान-संयम की वृद्धि एवं आत्मोत्कर्ष के लिए थी। आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर—ये संघ के पाँच आधार थे। इसीलिए श्रमण संघ का सक्षम नेतृत्व, सुगठित एवं सर्वांग परिपूर्ण संविधान युक्त था जिसमें अनुशासन, संचालन की प्रविधियाँ और व्यवस्थायें अपने युग की सर्वोच्च उपलब्धियाँ थीं। संघ में आचार्य, उपाध्याय आदि विविध पदों को नियुक्ति भी आचार्य ही करते थे।

श्रमणों के आहार, विहार, व्यवहार एवं संयम-साधना आदि सम्बन्धी नियम और कर्त्तव्य सुनिश्चित थे। आचार्य के सानिध्य में संघ में रहकर श्रमण इनका पालन करते हैं। यदि कोई इनका उल्लंघन करता तो उसे व्यवस्थित दण्ड-नीति के अन्तर्गत दण्डित किया जाता था। विशाल संघ के व्यवस्थित संचालन हेतु प्रासुक आहार चर्या तथा निर्बाध ज्ञान-ध्यान और संयम की साधना के लिए गण, गच्छ और कुल की व्यवस्था थी, जो संघ की ही ईकाइयों के रूप में काम करते थे और एक संघ प्रमुख आचार्य के नेतृत्व में ही इनकी व्यवस्था का संचालन होता था। आचार्य ही इनके प्रमुख नियुक्त करता था। सभी की मर्यादायें, परस्पर व्यवहार, कार्यों का विभाजन—सब कुछ व्यवस्थित ढंग से होता था। एक-दूसरे के गण, गच्छ तथा एक-दूसरे आचार्य के पास विशेष ज्ञान-ध्यान की साधना अथवा सल्लेखना आदि के निमित्त आगन्तुक श्रमण के रूप में आने-जाने का मार्ग प्रशस्त था तथा सब कुछ सहज रूप में चलता रहता था।

धीरे-धीरे इन सब में किञ्चित परिवर्तन आया। गण, गच्छ आदि शाखाओं की विभाजन-रेखा स्पष्ट रूप में सामने आने लगी। इसीलिए आचार्य वट्टकेर को

क्षोभ-पूर्वक यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ा कि गण में प्रवेश की अपेक्षा विवाह करके घर बसा लेना अच्छा है क्योंकि विवाह से तो राग की उत्पत्ति होती है किन्तु गण तो अनेक दोषों की खान है। वट्टकेराचार्य ने शिथिलाचारी प्रवृत्तियों की कड़े शब्दों में निन्दा की और ऐसे श्रमणों को ढोंढाचार्य, समणपोल्लो जैसे शब्दों से सम्बोधित किया एवं पार्श्वस्थ, कुशील आदि पाप-श्रमणों से सदा दूर रहने को कहा। संघ में रहकर ज्ञान-ध्यान एवं संयम की साधना में संलग्न रहनेवाले श्रमणों की प्रशंसा की और कहा कि जैसे नवप्रसूता गाय अपने बछड़े के प्रति सहज वात्सल्य और स्नेहभाव रखती है वैसे ही चारों गतिरूप संसार से पार करने में कारणभूत चतुर्विध संघ में वात्सल्य रखना चाहिए। यही कारण है कि दक्षिण भारत में बहुत साल तक भद्रबाहु के बाद किसी संघ, गण, गच्छ का निर्माण न हो सका।

श्रमण संघ : परिवर्तन की दिशा :—

डॉ० गुलाबचंद्र चौधरी के अनुसार ऐतिहासिक दृष्टि से श्रमण संघ का गण, गच्छ आदि रूप में विभाजन विक्रम की तीसरी शती के उत्तरार्ध का है। इसके पहले समग्र जैन संघ का नाम निर्ग्रन्थ संघ था। दक्षिणी जैनधर्म की मान्यता में भगवान् महावीर के बाद गुरु-परम्परा में वीर निर्वाण संवत् ६८३ अर्थात् लोहाचार्य तक एक-एक ही आचार्य शिष्य परम्परा से चले आये और उनकी किन्हीं शाखा-प्रशाखाओं का उल्लेख नहीं मिलता। भगवान् महावीर निर्वाण के बाद करीब ७०० वर्षों में समस्त जैन संघ को विकासशील पाया। किन्तु देश-काल एवं मानवीय प्रवृत्तियों का आश्रय लेकर वह विकसित होता रहा और ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दियों में कतिपय भेदों में प्रस्फुटित होने लगा। इसके बाद उसे नए देश, नये वातावरण, नये राज्याश्रय और नये समाज में परिस्थितिवश अपनी व्यवस्था करनी पड़ी, जिन व्यवस्थाओं के नाम पर उसमें आवश्यक परिवर्तन अनिवार्य हो गया। जैन मुनि का आदर्श जो महावीर के युग में था, वह ७०० वर्ष बाद पर्याप्त बदल गया था। तिल-तुष परिग्रह न रखने वाला निर्ग्रन्थ भी जमाने की चपेट में आ अपवाद मार्ग का आलम्बन ले धार्मिक संस्थाओं की व्यवस्था देखने के नाम पर प्रवृत्तिमार्गी होने लगा था। उसने नवीन राज्याश्रय पा नये संघों, गणों एवं गच्छों की स्थापना की। नई-नई आचार्य परम्परायें कायम हुईं, जिनमें कुछ तो स्थानीय और कुछ व्यापक रूप धारण करने लगी। इस नई व्यवस्था के काल में भी निवृत्तिमार्गी परम्परानुयायी साधुओं का बड़ा समाज था जो विज्ञापनहीन जनजीवन से परे, अपनी आत्मआराधना में लगा रहता था और अपने सहधर्मियों की उक्त प्रवृत्ति का समय-समयपर तीव्र विरोध करता था।[1]

---

१. आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ : डॉ० गुलाबचंद्र चौधरी का लेख 'दिगम्बर जैनसंघ के अतीत की एक झांकी' से.

परवर्ती काल में दिगम्बर परम्परा के मूलसंघ में स्थान आदि के नाम पर विशेषकर कर्नाटक के स्थानों से स्थापित कई प्रकार के संघ, गण और गच्छ आदि शाखाओं का उल्लेख मिलता है। जैसे—

१. **संघ**—इसके अन्तर्गत नविलूरसंघ, मयूरसंघ, किचूरसंघ, कोशलनूरसंघ, गनेश्वरसंघ, गौडसंघ, श्रीसंघ, सिंघसंघ, परलूरसंघ आदि।

२. **गण**—बलात्कारगण (प्रारम्भिक नाम-बलिहारी या बलगार), सूरस्थ-गण, क्राणूर, कालोग्र, उदार, योगरिय, पुलागवृक्ष, मूलगण, पंकुर आदि।

३. **गच्छ**—चित्रकूट, होत्तगे, तिगरिल, होगरि, पारिजात, मेषपाषाण, तिंत्रिणीक, सरस्वती, पुस्तक, वक्रगच्छ आदि।

४. **अन्वय**—कौण्डकुन्दान्वय, श्रीपुरान्वय, किन्नूरान्वय, चन्द्रकवाटान्वय, चित्रकूटान्वय आदि।[1]

मूलसंघ के इन भेद-प्रभेदों के बावजूद इसमें शुद्धाचारी और तपस्वी श्रमणों की कमी न थी और ऐसे ही श्रमणों ने शिथिलाचार को दूर करने और श्रमणसंघ की मूल परम्पराओं को सुदृढ़ करने में महान् योग दिया।

इस प्रकार श्रमणसंघ के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि यह विचारों में जितना मध्यमार्गी है, आचार में उतना ही सुदृढ़, मर्यादाबद्ध एवं अनुशासित है। भगवान् महावीर से लेकर अब तक इसका एक निश्चित विकास-क्रम स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार इसमें अनेक उतार-चढ़ाव आते रहे तथा समय-समय पर अत्यन्त कठिन परिस्थितियों में आगमानुकूल आचार-विचार और व्यवहार के पालन में कठिनाईयाँ उत्पन्न हुई किन्तु वैसी स्थिति में भी मूल आचार-विचार के पथ से कभी विचलित नहीं हुए। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार आचार्यों ने मूल उद्देश्य को सुरक्षित रखते हुए किञ्चित् परिवर्तन की नयी व्यवस्थायें और नयी दिशायें भी प्रदान की ताकि जैनधर्म के माध्यम से आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त होता रहे। इस तरह भगवान् महावीर के निर्वाण के उपरान्त श्रमणसंघ प्रगति एव विकास की ओर निरन्तर अग्रसर रहा और अपने मौलिक सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार एवं उनकी रक्षा विविध माध्यमों द्वारा देश-देशान्तर तक प्राचीनकाल से अब तक करता आ रहा है।

●

१. आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ: डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी का लेख 'दि० जैन संघ के अतीत की एक झांकी' से.

आर्यिकाओं की आचार पद्धति

चतुर्विध संघ में आर्यिकाओं का स्थान :

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध श्रमण संघ में 'आर्यिका' का दूसरा स्थान है। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तथा इनकी उत्तरवर्ती परम्परा में आर्यिका संघ की एक व्यवस्थित आचार पद्धति एवं उनका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। श्रमण संस्कृति के उन्नयन में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका की सभी सराहना करते हैं। यद्यपि भगवान् महावीर के जीवन के आरम्भिक काल में स्त्रियों को समाज में पूर्ण सम्मान का दर्जा प्राप्त नहीं था किन्तु भगवान् महावीर ने स्त्रियों को समाज और साधना के क्षेत्र में सम्मानपूर्ण स्थान देने में पहल की। इन्होंने अपने संघ में स्त्रियों को 'आर्यिका' (समणी या साध्वी) के रूप में दीक्षित करके इनके आत्म-सम्मान एवं कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। इसका सीधा प्रभाव तत्कालीन बौद्ध संघ पर भी पड़ा और महात्मा बुद्ध को भी अन्ततः अपने संघ में स्त्रियों को भिक्षुणी के रूप में प्रवेश देना प्रारम्भ करना पड़ा।

आचार विषयक दिगम्बर परम्परा के प्रायः सभी ग्रन्थों में जिस विस्तार के साथ मुनियों के आचार-विचार आदि का विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन मिलता है, आर्यिकाओं के आचार-विचार का उतना स्वतन्त्र विवेचन नहीं मिलता। साधना के क्षेत्र में मुनि और आर्यिका में किञ्चित् अन्तर स्पष्ट करके आर्यिका के लिए मुनियों के समान ही आचार-विचार का प्रतिपादन इस साहित्य में मिलता है। मूलाचारकार एवं वृत्तिकार ने कहा है कि जैसा समाचार (सम्यक्-आचार एवं व्यवहार आदि) श्रमणों के लिए कहा गया है उसमें वृक्षमूल, अभ्रावकाश एवं आतापन आदि योगों को छोड़कर अहोरात्र सम्बन्धी सम्पूर्ण समाचार आर्यिकाओं के लिए भी यथायोग्य रूप में समझना चाहिए।[1] इसीलिए स्वतंत्र एवं विस्तृत रूप में आर्यिकाओं के आचारादि का प्रतिपादन आवश्यक नहीं समझा गया।

वस्तुतः वृक्षमूलयोग (वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे खड़े होकर ध्यान करना), आतापनयोग (प्रचण्ड धूप में भी पर्वत की चोटी पर खड़े होकर ध्यान करना),

---

१. एसो अज्जाणंपि अ सामाचारो जहक्खिओ पुव्वं।
सव्वह्मि अहोरत्तं विभासिदव्वो जधाजोग्गं ॥ मूलाचार सवृत्ति ४।१८७.

अभ्रावकाशयोग (शीत ऋतु में खुले आकाश में ध्यान करना तथा दिन में सूर्य की ओर मुख करके खड्गासन मुद्रा में ध्यान करना) एवं अचेलकत्व (नग्नता) आदि कुछ ऐसे पक्ष हैं जो स्त्रियों की शरीर-प्रकृति के अनुकूल न होने के कारण उनका आचरण भी सम्भव नहीं है। इसीलिए आर्यिकायें उपचार से महाव्रतादि मूलगुणों की धारक मानी जाती हैं।

उपचार से महाव्रत होने के कारण तद्भव मोक्ष नहीं :

सिद्धान्तरूप में अनेक कारणों से आर्यिकाओं में उपचार से महाव्रत माने जाते हैं अतः उन्हें तद्भव मोक्षगामी नहीं माना जाता।

मूलाचार के चतुर्थ 'समाचार अधिकार' के अन्त में एक अधिकार समाप्ति सूचक गाथा इस प्रकार है--

एवं विधाए चरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ।
ते गुणपुज्जं किर्त्ति सुहं च लद्धूण सिज्झन्ति ॥४।१९६.

इसका अर्थ है—इस समाचार अधिकार में जो विधानचर्या (समाचार) कही गई है उसका जो साधु-आर्यिकायें आचरण करते हैं, वे जगत् से पूजा को, यश को और सुख को प्राप्त करके सिद्ध गति को प्राप्त होते हैं। आचार्य वट्टकेर के इस सामान्य कथन के आधार पर कुछ विद्वानों ने दिगम्बर परम्परा में भी स्त्री मुक्ति को सिद्ध करने का प्रयास किया है। किन्तु ग्रन्थकार का हार्द न समझने के कारण ही ऐसे विशेष अर्थ निकाले जाते हैं। जबकि ग्रन्थकार का स्पष्ट कथन है कि जगत् में पूजा, यश और सुख प्राप्त करके सिद्ध होते हैं। इसमें यह कथन कहीं नहीं है कि इसी भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे। वस्तुतः जगत्पूज्यता आदि विशेषताओं की प्राप्ति में ही जीव के कई (अनेक) भव व्यतीत हो जाते हैं। सिद्धान्त यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान पूर्वक स्वोचित मोक्षमार्ग का आर्यिकायें पालन करती हैं तब वर्तमान भव सहित कम से कम तीन भव धारण करके मनुष्य-भव पूर्वक नियम से मोक्ष जातीं हैं। आर्यिकाओं को पंचम गुणस्थान होता है।[1]

मोक्षपाहुड टीका में कहा है कि सज्जातित्व बतलाने के लिए स्त्रियों में महाव्रतों का उपचार होता है, परमार्थ से उनके महाव्रत नहीं होते क्योंकि उनकी कांख में, स्तनों के बीच में, नाभि में और योनि में निरन्तर जीवों की उत्पत्ति और विनाश रूप हिंसा होती रहता है और फिर स्त्रियाँ अहमिन्द्र पद भी प्राप्त

---

१. सुत्तपाहुड टीका २५.

नहीं कर सकतीं तब मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकती हैं ? यदि स्त्रियाँ मुक्त होती तो उस पर्याय की मूर्तियों की पूजा क्यों नहीं की जाती ?[1]

इसीलिए दिगम्बर परम्परा ने स्त्रियों को तद्भव मोक्षगामी नहीं माना, क्योंकि मोक्ष के कारणभूत जो ज्ञानादि गुण हैं उनका प्रकर्ष स्त्रियों में नहीं होता। इसी तरह सप्तम पृथ्वी (नरक) में जाने के कारणभूत पाप का परम प्रकर्ष भी स्त्रियों में नहीं पाया जाता है। यद्यपि स्त्रियों में सामान्यतः संयम तो है किन्तु वह संयम मोक्ष का कारण नहीं है, जैसे तिर्यञ्च या गृहस्थ का संयम मोक्ष का कारण नहीं है। शास्त्रों में वस्त्र रहित संयम स्त्रियों को नहीं बतलाया है।[2] श्वेताम्बर परम्परा में भी स्त्रियों को अचेलकत्व (वस्त्र रहित होने) का निषेध किया ही गया है।[3] वस्त्र-ग्रहण में अनेक प्रकार से जीवों का घात होता है। वस्त्र ग्रहण से बाह्य परिग्रह तथा स्व-शरीर का अनुरागादि रूप आभ्यन्तर परिग्रह स्त्रियों के होता है।[4]

प्रवचनसार की दो प्रक्षेपक गाथाओं में कहा है कि सम्यग्दर्शन की शुद्धि, सूत्रों के अध्ययन से संयुक्त तथा घोर पक्षोपवास, मासोपवास आदि तपश्चरण रूप चारित्र—इन सबसे युक्त स्त्रियों के भी सभी कर्मों की निर्जरा नहीं होती।[5] सुत्तपाहुड में यही कथन है किन्तु यहाँ 'ण णिज्जरा' के स्थान पर 'ण पावया' शब्द है जिसका अर्थ पं० जयचन्द जी छावड़ा ने अपनी भाषा वचनिका टीका में किया है कि—स्त्रीनि विषैं जो स्त्री सम्यक्त्व करि सहित होय और तपश्चरण करें तो पाप-रहित होय स्वर्ग कूं प्राप्त होय तातैं प्रशंसा योग्य है और स्त्री पर्याय तैं मोक्ष नाहीं।[6] विरक्तावस्था में भी स्त्रियों को वस्त्र धारण का विधान है।

---

१. मोक्खपाहुड गाथा १२ की श्रुतसागरीय टीका.

२. मोक्षहेतुर्ज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति परमप्रकर्षत्वात् सप्तमपृथ्वीगमनकारणापुण्यपरमप्रकर्षवत्।....संयममात्रं तु सदप्यासां न तद्धेतुः तिर्यग्गृहस्थादिसंयमवत्। ..न स्त्रीणां निर्वस्त्रः संयमो दृष्टः प्रवचनप्रतिपादितो वा। —प्रमेयकमलमार्तण्ड २।१२.

३. नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलियाए होत्तए—बृहत्कल्प सूत्र ५।१९.

४. गृहीतेऽपि वस्त्रे जन्तूपघातस्तदवस्थः।... वस्त्रगृहणादि बाह्यपरिग्रहोऽभ्यन्तरं स्वशरीरानुरागादिपरिग्रहमनुमापयति—प्रमेयकमल मार्तण्ड २।१२.

५. जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता।
घोरं चरदि व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा ॥ प्रवचनसार २२५।८.

६. सुत्तपाहुड २५.

अतः निर्दोष होने पर भी उन्हें अपना शरीर सदा वस्त्रों से ढके रहना पड़ता है।[१] इसीलिए स्त्रियों को तद्भव मोक्षगामी होने का विधान नहीं है।[२] आर्यिकाओं में उपचार से महाव्रत भी श्रमण संघ की व्यवस्था मात्र के लिए कहे गये हैं किन्तु उपचार में साक्षात् होने की सामर्थ्य नहीं होती। यदि स्त्री तद्भव से मोक्ष जाती होती तो सौ वर्ष की दीक्षिता-आर्यिका के द्वारा आज का नवदीक्षित मुनि भी वंदनीय कैसे होता? वह आर्यिका ही उस श्रमण द्वारा वंदनीय क्यों न होती?[३]

विरक्त स्त्रियों को भी वस्त्र-धारण के विधान में उनकी शरीर-प्रवृत्ति ही मुख्य कारण है, क्योंकि प्रतिमास चित्तशुद्धिका विनाशक रक्त-स्रवण होता है, कांख, योनि और स्तन आदि अवयवों में कई तरह के सूक्ष्मजीव उत्पन्न होते रहने से उनसे पूर्ण संयम का पालन सम्भव नहीं हो सकता[४]। इसीलिए इन्हीं सब कारणों के साथ हो[५] स्वभाव से पूर्ण निर्भयता एवं निर्मलता का अभाव, परिणामों में शिथिलता का सद्भाव तथा निःशंक रूप में एकाग्रचिन्ता निरोध रूप ध्यान का अभाव होने के कारण सूत्रपाहुड में स्त्रियों की दीक्षा तक का निषेध किया है।[६] इस प्रकार उत्तम संहनन के अभाव के कारण शुद्धोपयोग रूप परिणाम, तथा नग्न मुद्रा आदि आर्यिकाओं को सम्भव नहीं है। इस तरह वस्त्र त्याग की अशक्यता होने से तत्सम्बन्धी निराकुलता एवं चित्त की दृढ़ता उनमें नहीं हो सकती और न इन्हें सामायिकचारित्र की ही प्राप्ति हो सकती है, अतः इनमें उपचार से ही महाव्रत कहे गये हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के बृहत्कल्प में कहा है कि साध्वियाँ भिक्षु-प्रतिमायें धारण नहीं कर सकतीं। लकुटासन-उत्कटुकासन, वीरासन आदि आसन नहीं

---

१. ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि।
ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं॥ प्रवचनसार २२५।५.

२. स्त्रीणामपि मुक्तिर्न भवति महाव्रताभावात्—मोक्खपाहुड टीका १२.

३. वरिससयदिक्खियाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू।
अभिगमण वंदण नमंसणेण विणएण सो पुज्जो॥ मोक्खपाहुड टीका १२।१.

४. लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि॥ प्रवचनसार २२५।७.

५. सुत्तपाहुड गाथा ७.

६. चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण।
विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु णऽसंकया झाणं॥ सुत्तपाहुड २६.

कर सकतीं। गाँव के बाहर सूर्य के सामने हाथ ऊँचा करके आतापना नहीं ले सकतीं तथा अचेल एवं अपात्र (जिनकल्प) अवस्था धारण नहीं कर सकतीं।[1] बौद्ध परम्परा में भी स्त्री सम्यक्-सम्बुद्ध नहीं हो सकती।[2]

आर्यिका के लिए प्रयुक्त शब्द :

वर्तमान समय में सामान्यतः दिगम्बर परम्परा महाव्रत आदि धारण करने वाली दीक्षित स्त्री को 'आर्यिका' तथा श्वेताम्बर परम्परा में इन्हें 'साध्वी' कहा जाता है। दिगम्बर प्राचीन शास्त्रों में इनके लिए आर्यिका[3], आर्या[4], विरती,[5] संयती,[6] संयता[7], श्रमणी[8], आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। प्रधान आर्यिका को 'गणिनी'[9] तथा संयम, साधना एवं दीक्षा में ज्येष्ठ वृद्धा आर्यिका को स्थविरा (थेरी)[10] कहा गया है।

आर्यिकाओं का वेष :

आर्यिकायें निर्विकार वस्त्र एवं वेष धारण करने वालीं तथा पूरी तरह से शरीर-संस्कार (साज-शृंगार आदि) से रहित होती हैं। उनका आचरण सदा अपने धर्म, कुल, कीर्ति एवं दीक्षा के अनुरूप निर्दोष होता है।[11] वसुनन्दी के अनुसार-आर्यिकाओं के वस्त्र, वेष और शरीर आदि विकृति से रहित, स्वाभाविक-सात्त्विक होते हैं अर्थात् वे रंग-विरंगे वस्त्र, विलासयुक्त गमन और भूविकार-कटाक्ष आदि से रहित वेष को धारणा करने वाली होती हैं। जल्ल (प्रस्वेद-पसीना से युक्त रज)

---

१. वृहत्कल्प ५।१९-३४ तक (चारित्र प्रकाश पृष्ठ १३९.)

२. अट्ठानमेतं भिक्खवे अनवकासो यं इत्थी अरहं अस्स सम्मासम्बुद्धो—अंगुत्तर-निकाय १।९.

३. भ० आ० ३९६ तथा वि० टीका ४२१.

४. मूलाचार ४।१७७, १८४, १८५, १८७, १९१, १९६, सुत्तपाहुड २२.

५. वही, ४।१८०, १०।६१.

६. मूलाचार वृत्ति ४।१७७.

७. त्यक्ताशेष गृहस्थवेषरचना मंदोदरी संयता। पद्मपुराण

८. श्रीमती श्रमणी पार्श्वे बभूवुः परमार्यिका। वही,

९. गणिणी''''मूलाचार ४।१७८, १९२. गणिनीं महत्तरिकां—

—वही वृत्ति ४।१७८, १९२.

१०. थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा। मूलाचार ४।१९४.

११. अविकारवत्थवेसा जल्लमलविलित्तचत्तदेहाओ।
धम्मकुलकित्तिदिक्खा पडिरूपविसुद्धचरियाओ॥ मूलाचार ४।१९०.

और मैल से युक्त जिनका गात्र रहता है, जो किसी भी प्रकार का शरीर-संस्कार नहीं करतीं—ऐसीं ये आर्यिकायें क्षमा, मार्दव आदि धर्म, माता-पिता के कुल, अपना यश और अपने व्रतों के अनुरूप निर्दोष चर्या करती हैं।[१]

सुत्तपाहुड तथा इसकी श्रुतसागरीय टीका में तीन प्रकार के वेष (लिंग) का कथन है—१. मुनि, २. ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक-ऐलक एवं क्षुल्लक तथा ३. आर्यिका।[२] कहा है तीसरा लिंग (वेष) स्त्री (आर्यिका) का है। इसे धारण करने वाली स्त्री दिन में एक बार आहार ग्रहण करती है। वह आर्यिका भी हो तो एक ही वस्त्र धारण करे तथा वस्त्रावरण युक्त अवस्था में ही आहार ग्रहण करे।[३]

वस्तुतः स्त्रियों में उत्कृष्ट वेष को धारण करने वाली आर्यिका और क्षुल्लिका—ये दो होती हैं। दोनों ही दिन में एक बार आहार लेतीं हैं। आर्यिका मात्र एक वस्त्र तथा क्षुल्लिका एक साड़ी के सिवाय ओढ़ने के लिए एक चादर भी रखती हैं। भोजन करते समय एक सफेद साड़ी रखकर ही दोनों आहार करती हैं। अर्थात् आर्यिका के पास तो एक साड़ी है पर क्षुल्लिका एक साड़ी सहित किन्तु चादर रहित होकर आहार करती हैं।[४] भगवती आराधना में भी क्षुल्लिका का उल्लेख मिलता है।[५]

भगवती आराधना में सम्पूर्ण परिग्रह के त्यागरूप औत्सर्गिक लिंग में चार बातें आवश्यक मानी गई हैं—अचेलता, केशलोच, शरीर-संस्कार-त्याग और प्रतिलेखन (पिच्छी)।[६] किन्तु स्त्रियों के अचेलता (नग्नता) का विधान न होते हुए भी अर्थात् तपस्विनी स्त्रियाँ एक साड़ी मात्र परिग्रह रखते हुए भी उनमें औत्सर्गिक लिंग माना गया है। अर्थात् उनमें भी ममत्व त्याग के कारण उपचार से निर्ग्रन्थता का व्यवहार होता है। परिग्रह अल्प कर देने से स्त्री के उत्सर्ग

---

१. मूलाचार वृत्ति ४।१९०.

२. सुत्तपाहुड १०, २१, २२.

३. लिंगं इत्थीणं हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ॥ सुत्तपाहुड २२.

४. सुत्तपाहुड श्रुतसागरीय टीका २२.

५. खुड्डा य खुड्डियाओ''''भ० आ० ३९६.

६. अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे॥ भ० आ० ७९.

लिंग होता है।[1] इसीलिये सागार धर्मामृत में कहा भी है कि एक कौपीन (लंगोटी) मात्र में ममत्व भाव रखने से उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक) भी महाव्रती नहीं कहलाता जबकि आर्यिका साड़ी में भी ममत्व भाव न रखने से उपचरित महाव्रत के योग्य होती है।[2]

वस्तुतः स्त्रियों की शरीर-प्रकृति ही ऐसी है कि उन्हें अपने शरीर को वस्त्र से सदा ढके रखना आवश्यक होता है। इसीलिए आगम में कारण की अपेक्षा से आर्यिकाओं को वस्त्र की अनुज्ञा है।[3] श्वेताम्बर परम्परा के बृहत्कल्पसूत्र (५।१९) में भी कहा है—नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलियाए होत्तए—अर्थात् निर्ग्रन्थियों (आर्यिकाओं) को अचेलक (निर्वस्त्र) रहना नहीं कल्पता। आचार्य कुन्दकुन्दकृत प्रवचनसार की प्रक्षेपक गाथा में कहा है कि निर्दोष होने पर भी आर्यिकाओं को अपना शरीर वस्त्रों से ढके रहना पड़ता है अतः विरक्तावस्था में भी उन्हें वस्त्र धारण का विधान है।[4] इसीलिए वस्त्र त्याग की आशक्यता होने से तत्सम्बन्धी निराकुलता एवं चित्त की दृढ़ता उनमें हो नहीं सकती अतः आर्यिकाओं में उपचार से ही महाव्रत कहे हैं।

दौलत 'क्रिया कोश' में कहा है कि आर्यिकायें एक सादी सफेद धोती (साड़ी), पिच्छी, कमण्डलु एवं शास्त्र रखतीं है। बैठकर करपात्र में आहार ग्रहण करतीं हैं तथा अपने हाथों से केशलुञ्चन करती हैं।[5] इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुण (उपचार से) और समाचार विधि का आर्यिकायें पालन करती हैं। साड़ी मात्र परिग्रह धारण करती हैं अर्थात् एक बार में एक साड़ी पहनती हैं--ऐसे दो साड़ी का परिग्रह रहता है।[6]

श्वेताम्बर परम्परा में साध्वी को चार वस्त्र रखने का विधान है। एक वस्त्र

---

१. भ० आ० ८० विजयोदया टीका सहित।

२. कौपीनेऽपि समूर्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतम्।
अपि भाक्तममूर्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति॥ सागारधर्मामृत ८।३७.

३. आर्यिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्रं कारणापेक्षया--भ० आ० विजयोदया ४२३. पृ० ३२४.

४. प्रवचनसार गाथा २२५ के बाद प्रक्षेपक गाथा ५.

५. क्रियाकोश : महाकवि दौलतरामकृत।

६. वस्त्रयुग्मं सुवीभत्सलिंगप्रच्छादनाय च।
आर्याणां संकल्पेन तृतीये मूलमिष्यते॥ प्रायश्चित्त संग्रह ११९.

दो हाथ का, दो वस्त्र तीन हाथ के और एक वस्त्र चार हाथ का।[1] किन्तु ये वस्त्र श्वेत रंग के ही होने चाहिए श्वेत वस्त्र छोड़कर विविध रंगों आदि से विभूषित जो वस्त्र धारण करती है वह आर्या नहीं अपितु शासन की अवहेलना करते वाली वेष-विडम्बनी है।[2]

कदाचित् वस्त्र-त्याग का भी विधान : सागार धर्मामृत में कहा है कि जिनेन्द्रदेव ने स्त्री का जो औत्सर्गिक लिंग या अन्य पद आदि कहा है वह उसके संस्तर पर आरोहण के समय मृत्यु काल में तथा एकान्त वसतिका आदि स्थान में वस्त्र मात्र का भी परित्याग कर सकती है।[3]

वसतिका :

गृहस्थों के मिश्रण से रहित वसतिका, जहाँ परस्त्री-लंपट, चोर, दुष्टजन तिर्यञ्चों एवं असंयत जनों का सम्पर्क न हो, साथ ही जहाँ यतियों का निवास या उनकी सन्निकटता न हो, असंज्ञियों (अज्ञानियों) का आना-जाना न हो ऐसी संक्लेश रहित, बाल, वृद्ध आदि सभी के गमनागमन योग्य, विशुद्ध संचार युक्त प्रदेश में दो, तीन अथवा इससे भी अधिक संख्या में एक साथ मिलकर आर्यिकाओं को रहना चाहिए।[4] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जहाँ मनुष्य अधिक एकत्रित होते हों—ऐसे राजपथ-मुख्यमार्ग, धर्मशाला और तीन-चार रास्तों के संगम स्थल पर आर्यिकाओं को नहीं ठहरना चाहिए। खुले स्थान पर तथा बिना फाटक वाले स्थान पर भी नहीं रहना चाहिए।[5] जिस उपाश्रय के समीप गृहस्थ रहते हों वहाँ साधुओं को नहीं रहना चाहिए किन्तु साध्वियाँ रह सकती हैं।[6]

---

१. आचारांग सूत्र २।५।१४१.

२. गच्छाचार पइन्ना ११२.

३. यदौत्सर्गिकमन्यद्वा लिङ्गमुक्तं जिनैः स्त्रियाः।
पुंवत्तदिष्यते मृत्युकाले स्वल्पीकृतोपधेः ॥
—सागारधर्मामृत ८।३९. ज्ञानदीपिका टीका सहित।

४. अगिहत्थमिस्सणिलये असण्णिवाए विशुद्धसंचारे।
दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थंति ॥
—मूलाचार ४।१९१ वृत्तिसहित।

५. बृहत्कल्प भाष्य उ० १।२, २।११, १.

६. बृहत्कल्प सूत्र प्रथम उद्देश प्रतिबद्धशय्यासूत्र (जै० सा० का वृ० इति० भाग २. पृ० २४१).

वसतिकाओं में आर्यिकायें मात्सर्यभाव छोड़कर एक दूसरे के अनुकूल, तथा एक दूसरे के रक्षण के अभिप्राय में पूर्ण तत्पर रहती हैं। रोष, बैर और मायाचार जैसे विकारों से रहित, लज्जा, मर्यादा और उभयकुल—पितृकुल, पतिकुल अथवा गुरुकुल के अनुरूप आचरण (क्रियाओं) द्वारा अपने चारित्र की रक्षा करती हुई रहती हैं।[१] आर्यिकाओं में भय, रोष आदि दोषों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। तभी तो ज्ञानार्णव में कहा है शम, शील और संयम से युक्त अपने वंश में तिलक के समान, श्रुत तथा सत्य से समन्वित ये नारियाँ (आर्यिकायें) धन्य हैं।[२]

समाचार : विहित एवं निषिद्ध

चरणानुयोग विषयक जैन साहित्य में श्रमण और आर्यिकाओं दोनों के समाचार आदि प्रायः समान रूप से प्रतिपादित हैं।[३] मूलाचारकार ने इनके समाचार के विषय में कहा है कि आर्यिकायें अध्ययन, पुनरावृत्ति (पाठ करने) श्रवण-मनन, कथन, अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन, तप, विनय तथा संयम में नित्य ही उद्यत रहती हुई ज्ञानाभ्यास रूप उपयोग में सतत् तत्पर रहती हैं तथा मन, वचन और कायरूप, योग के शुभ अनुष्ठान से सदा युक्त रहती हुई अपनी दैनिक चर्या पूर्ण करती हैं।[४]

किसी प्रयोजन के बिना परगृह चाहे वह श्रमणों की ही वसतिका क्यों न हो या गृहस्थों का घर हो, वहाँ आर्यिकाओं का जाना निषिद्ध है। यदि भिक्षा प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि विशेष प्रयोजन से वहाँ जाना आवश्यक हो तो गणिनी (महत्तरिका या प्रधान आर्यिका) से आज्ञा लेकर अन्य कुछ आर्यिकाओं के साथ मिलकर जा सकती हैं, अकेले नहीं।[५] स्व-पर स्थानों में दुःखार्त्त को देखकर रोना, अश्रुमोचन, स्नान (बालकों को स्नानादि कार्य) कराना, भोजन कराना, रसोई पकाना, सूत कातना तथा छह प्रकार का आरम्भ अर्थात् जीवघात की कारणभूत क्रियायें आर्यिकायें नहीं करतीं। संयतों के पैरों में मालिश करना, उनका प्रक्षालन

---

१. अण्णोण्णणुकूलाओ अण्णोण्णाहिरक्खणाभिजुत्ताओ।
गयरोसवेरमायासलज्जमज्जादकिरियाओ॥ मूलाचार ४।१८८.

२. ज्ञानार्णव १२।५७.

३. हिस्ट्री आफ जैन मोनासिज्म, पृ० ४७३.

४. अज्झयणे परियट्टे सवणे कहणे तहाणुपेहाए।
तवविणयसंजमेसु य अविरहिदुपओगजोगजुत्ताओ॥ मूलाचार ४।१८९.

५. ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्सगमणिज्जे।
गणिणीमापुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज॥ मूलाचार ४।१९२.

करना, गीत गाना आदि कार्य उन्हें निषिद्ध हैं।[1] असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और लेखन का र्य—ये जीवघात के हेतुभूत छह प्रकार को आरम्भ क्रियायें हैं।[2] पानी लाना, पानी छानना (छेण), घर को साफ करके कूड़ा-कचरा उठाना-फेंकना, गोबर से लीपना, झाड़ू लगाना और दीवालों को साफ करना—ये जीवघात करने वाली छह प्रकार की आरम्भ क्रियायें भी आर्यिकायें नहीं करतीं।[3] मूलाचार के पिण्डशुद्धि अधिकार में आहार सम्बन्धी उत्पादन के सोलह दोषों के अन्तर्गत धायकर्म, दूतकर्म आदि कार्य भी उन्हें निषिद्ध हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के गच्छाचारपइन्ना ग्रंथ में कहा है—जो आर्यिका गृहस्थी सम्बन्धी कार्य जैसे—सीना, बुनना, कढ़ाई आदि कार्यों को और अपनी या दूसरे की तेल मालिश आदि कार्य करती हैं वह आर्यिका नहीं हो सकती।[4] जिस गच्छ में आर्यिका गृहस्थ सम्बन्धी जकार, मकार, आदि रूप शासन की अवहेलना सूचक शब्द बोलती है वह वेश-विडम्बनी तथा अपनी आत्मा को चतुर्गति में घुमाने वाली है।[5]

आहारार्थ गमन विधि :

आहारार्थ भिक्षा के लिए वे आर्यिकायें तीन, पाँच अथवा सात की संख्या में स्थविरा (वृद्धा) आर्यिका के साथ मिलकर उनका अनुगमन करती हुई तथा परस्पर एक दूसरे के रक्षण (सँभाल) का भाव रखती हुई ईर्या समितिपूर्वक आहारार्थ निकलती हैं।[6] देव-वन्दना आदि कार्यों के लिए भी उपर्युक्त विधि से गमन करना चाहिए।[7] आर्यिकायें दिन में एक बार सविधि बैठकर करपात्र में आहार ग्रहण करती हैं।[8] गच्छाचार पइन्ना में कहा है—कार्यवश लघु आर्या मुख्य आर्या के पीछे रहकर अर्थात् स्थविरा के पीछे बैठकर

---

१. रोदणण्हावणभोयणपयणं सुत्तं च छव्विहारंभे।
विरदाण पादमक्खण धोवणगेयं च ण य कुज्जा ।। मूलाचार ४।१९३.

२. असिमषिकृषिवाणिज्यशिल्पलेखक्रियाप्रारम्भास्तान् जीवघातहेतून्—
—मूलाचार वृत्ति ४।१९३.

३. पाणियणयणं छेणं गि ह्योहरणं च गेहसारमणं।
कुड्डावलिप्पणं कुड्डविदे एदंतु छव्विहारंभो ।। कुन्द० मूलाचार ४।७४.

४. गच्छाचार पइन्ना ११३.

५. वही ११०.

६. तिण्णि व पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्णरक्खाओ।
थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरन्ति सदा ।। मूलाचार ४।१९४.

७. वही वृत्ति.

८. सुत्तपाहुड श्रुतसागरीय टीका २२. तथा दौलत क्रियाकोश।

श्रमण-प्रमुख के साथ सहज, सरल और निर्विकार वाक्यों द्वारा मृदु वचन बोले तो वही वास्तविक गच्छ कहलाता है।[1]

स्वाध्याय सम्बन्धी विधान : मुनि और आर्यिका आदि सभी के लिए स्वाध्याय आवश्यक होता है। वट्टकेर ने स्वाध्याय के विषय में आर्यिकाओं के लिए लिखा है कि गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली तथा अभिन्नदशपूर्वधर–इनके द्वारा कथित सूत्रग्रंथ, अंगग्रंथ तथा पूर्वग्रंथ–इन सबका अस्वाध्यायकाल में अध्ययन मन्दबुद्धि के श्रमणों और आर्यिका समूह द्वारा निषिद्ध है। अन्य मुनिश्वरों को भी द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि की शुद्धि के बिना उपर्युक्त सूत्रग्रंथ पढ़ना निषिद्ध है। किन्तु इन सूत्रग्रंथों के अतिरिक्त आराधनानिर्युक्ति, मरणविभक्ति, स्तुति, पंचसंग्रह, प्रत्याख्यान, आवश्यक तथा धर्मकथा सम्बन्धी ग्रंथों को एवं ऐसे ही अन्यान्य ग्रंथों को आर्यिका आदि सभी अस्वाध्याय काल में भी पढ़ सकती हैं।[2]

वंदना-विनय संबंधी व्यवहार :

शास्त्रों के अनुसार सौ वर्ष की दीक्षित आर्यिका से भी नव दीक्षित श्रमण पूज्य और ज्येष्ठ माना गया है। अतः स्वाभाविक है कि आर्यिकायें श्रमण के प्रति अपना विनय प्रकट करती हैं। आर्यिकाओं के द्वारा श्रमणों की वन्दना विधि के विषय में कहा है कि आर्यिकाओं को आचार्य की वन्दना पाँच हाथ दूर से, उपाध्याय की वन्दना छह हाथ दूर से एवं साधु की वन्दना सात हाथ दूर से गवासन पूर्वक बैठकर ही करनी चाहिए। यहाँ सूरि, अध्यापक (उपाध्याय) एवं साधु शब्द से यह भी सूचित होता है कि आचार्य से पाँच हाथ दूर से ही आलोचना एवं वन्दना करना चाहिए। उपाध्याय से छह हाथ दूर बैठकर अध्ययन करना चाहिए एवं सात हाथ दूर से साधु की वन्दना, स्तुति आदि कार्य करना चाहिए, अन्य प्रकार से नहीं। यह क्रमभेद आलोचना, अध्ययन और स्तुति करने की अपेक्षा से हो जाता है।[3] मोक्षपाहुड की टीका के अनुसार श्रमण और आर्यिका के बीच परस्पर वन्दना उपयुक्त तो नहीं है, किन्तु यदि आर्यिकायें

---

१. गच्छाचार पइन्ना, १२९-१३०.
२. मूलाचार ५।८०-८२, वृत्तिसहित।
३. पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधु य।
परिहरिऊण ज्जाओ गवासणेणेव वंदंति॥
—मूलाचार ४।१९५ वृत्ति सहित

वन्दना करें तो श्रमण को उनके लिए 'नमोऽस्तु' शब्द न कहकर 'समाधिरस्तु या कर्मक्षयोऽस्तु' कहना चाहिए।[1]

आर्यिका और श्रमण : परस्पर सम्बन्धों की मर्यादा :

जैनाचार्यों ने श्रमण संघ को निर्दोष एवं सदा अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अनेक दृष्टियों से स्त्रियों के संसर्ग से चाहे वह आर्यिका भले ही हो, दूर रहने का विधान किया है। यही कारण है कि श्रमण संघ आज भी बिना किसी बाधा या अपवाद के अपनी अक्षुण्णता बनाये हुए है।

श्रमणों और आर्यिकाओं का सम्बन्ध (परस्पर व्यवहार) धार्मिक कार्यों तक ही सीमित है। कुछ आर्यिकायें एक साथ मिलकर श्रमण से अध्ययन 'शंका-समाधान आदि कार्य कर सकती हैं, अकेले नहीं। अकेले श्रमण और आर्यिका को परस्पर बातचीत तक का निषेध है। कहा भी है कि तरुण श्रमण किसी भी तरुणी आर्यिका या अन्य किसी स्त्री से कथा-वार्तालाप न करे। यदि इसका उल्लंघन करेगा तो आज्ञाकोप, अनवस्था (मूल का ही विनाश), मिथ्यात्वाराधना, आत्म-नाश और संयम-विराधना—इन पाप के हेतुभूत पाँच दोषों से दूषित होगा।[2] अध्ययन या शंका-समाधान आदि धार्मिक कार्य के लिए आर्यिकायें या स्त्रियाँ यदि श्रमण संघ आयें तो उस समय श्रमण को वहाँ अकेले नहीं ठहरना चाहिए और बिना प्रयोजन वार्तालाप नहीं करना चाहिए किन्तु कदाचित् धर्मकार्य के प्रसंग में बोलना भी ठीक है।[3] एक आर्यिका कुछ प्रश्नादि पूछे तो अकेला श्रमण उसका उत्तर न दे, अपितु कुछ श्रमणों के सामने उत्तर दे। यदि आर्यिका गणिनी के साथ या उसे आगे करके कोई प्रश्न पूछे तब अकेले श्रमण उसका उत्तर दे सकता है अर्थात् मार्ग—प्रभावना की इच्छा रखते हुए प्रश्नोत्तरों आदि का प्रतिपादन करना चाहिए, अन्यथा नहीं।[4]

आर्यिकाओं की वसतिका में श्रमणों को नहीं ठहरना चाहिए, वहाँ क्षणमात्र

---

१. मुनिजनस्य स्त्रियाश्च परस्परं वन्दनापि न युक्ता। यदि ता वन्दन्ते तदा मुनिभिर्नमोऽस्त्विति न वक्तव्यं, किं तर्हि वक्तव्यं? समाधिकर्मक्षयोस्त्विति— मोक्षपाहुड गाथा १२ की श्रुतसागरीय टीका.

२. मूलाचार ४।१७९ वृत्ति सहित।

३. वही ४।१७७ वृत्ति सहित।

४. तासिं पुण पुच्छाओ इक्किस्से णय कहिज्ज एक्को दु।
गणिणी पुरओ किच्चा जदि पुच्छइ तो कहेदव्वं॥
—वही वृत्ति सहित ४।१७८.

या कुछ समय तक की (अल्पकालिक) क्रियायें भी नहीं करनी चाहिए। अर्थात् वहाँ बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार, भिक्षा ग्रहण, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग एवं मलोत्सर्ग आदि क्रियायें भी निषिद्ध हैं।[१] क्योंकि कामाग्नि से पीड़ित हुआ मलिन चित्तवाला श्रमण उस संघ में रहने वाले स्थविर, चिरदीक्षित मुनि, आचार्य, बहुश्रुत उपाध्याय तथा तपस्वियों को भी कुछ नहीं समझता है, उनको नहीं देखता, उनकी उपेक्षा कर देता है। और तो और, वह अपने माता-पिता के कुल को अथवा अपने सम्यक्त्व आदि को भी नष्ट कर देता है, या इन गुणों की वह विराधना कर देता है।[२]

भगवती आराधना में कहा है कि स्थिरबुद्धिधारी श्रमण के भी संसर्ग से चित्त में उल्लास पाकर चंचल चित्तवाली आर्यिका का मन उसी प्रकार द्रवित होता है जैसे अग्नि के समीप घी द्रवित (पिघल) होता है। आर्या के साथ परिचय को प्राप्त किये या उसके अनुगामी भी उससे स्वयं को छुड़ाने में असमर्थ होता है।[३] वृद्ध, तपस्वी, बहुश्रुत और जनमान्य (प्रामाणिक) श्रमण भी यदि आर्याजन से संसर्ग रखता है तो वह लोकापवाद का भागी (लोगों की निन्दा का स्थान) बन जाता है[४]। तब जो श्रमण अवस्था में तरुण हैं, बहुश्रुत भी नहीं हैं और न जो उत्कृष्ट तपस्वी और चारित्रवान् हैं वे आर्याजन के संसर्ग से लोकापवाद के भागी क्यों नहीं होंगे? जो साधु घर, जमीन आदि समस्त परिग्रहों से मुक्त है वह सर्वत्र अपने को वश में रखता है किन्तु वही साधु आर्या का अनुगामी होकर आत्मवशी नहीं रहता। साधु का आर्या के साथ ऐसा बन्धन है जिसकी कोई उपमा नहीं है। चर्म के साथ ही उतरने वाला वज्रलेप भी उसके समान नहीं है।[५]

साधु के लिए केवल आर्याओं का संसर्ग ही त्याज्य नहीं है, बल्कि जो बाला, कन्या, तरुणी, वृद्धा, सुरूप, कुरूप सभी प्रकार के स्त्रीवर्ग में प्रमाद रहित होता है और कभी भी उनका विश्वास नहीं करता वही साधु ब्रह्मचर्य को जीवन पर्यन्त पार लगाता है। जो उससे विपरीत होता है अर्थात् स्त्रियों के सम्बन्ध में प्रमादी और विश्वासी होता है वह ब्रह्मचर्य को पार नहीं कर पाता। आर्यिकाओं के

---

१. मूलाचार ४।१८०, १०।६१ वृत्ति सहित।
२. वही, वृत्ति सहित ४।१८१.
३. भगवती आराधना ३३३, ३३६.
४. वही, ३३१.
५. वही, गाथा ३३२, ३३५, ३३७.

उपाश्रय में ठहरने वाला श्रमण लोकापवाद रूप व्यवहार-निन्दा तथा व्रतभंग रूप परमार्थ-निन्दा इन-दोनों को प्राप्त होता है।[१] इस प्रकार साधु को केवल आर्याजनों के संसर्ग से ही दूर नहीं रहना चाहिए किन्तु अन्य भी जो-जो वस्तु साधु को परतन्त्र करती है उस-उस वस्तु का त्याग करने हेतु तत्पर रहना चाहिए। उसके त्याग से उसका संयम दृढ़ होगा। क्योंकि वाह्य वस्तु के निमित्त से होने वाला असंयम उस वस्तु के त्याग से ही सम्भव होता है।[२]

वस्तुतः सदाचार रूप संसर्ग से विशुद्धता आती है अर्थात् बोधि बढ़ती है और कुत्सित आचरण एवं प्रतिकूल संसर्ग से वह नष्ट भी हो जाती है। जैसे संसर्ग विशेष से जल का घड़ा कमल की सुगन्ध से शीतल और सुगंधित हो जाता है तथा अग्नि आदि के संसर्ग से उष्ण एवं रसहीन हो जाता है।[३] अतः श्रमण को अच्छे संसर्ग में रहना चाहिए।

कन्या, विधवा, अन्तःपुर में रहने वाली रानो, स्वेच्छाचारिणी, तथा सलिंगिणी तपस्विनी महिला (आर्यिका) अर्थात् समान लिंग-व्रतादि रूप धारण करने वाली स्त्रियों के भी साथ क्षणमात्र का संसर्ग (सम्पर्क) तथा बातचीत आदि क्रियाओं से श्रमण अपवाद (निन्दा) को प्राप्त होता है।[४] गच्छाचारपइन्ना में कहा है सभी पदार्थों में ममता रहित साधु स्वाधीन होता है किन्तु यदि वह आर्यिका के पाश में बंधता है तथा उसी के कथन का अनुसरण करता है तो वह साधु परतंत्र सेवक के समान हो जाता है।[५] मूलाचारकार ने कहा है : स्त्री रूप-प्रत्यय के सद्भाव (विश्वास के कारणवश) से जीव के चित्त में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता हैं।[६] अतः माता, बहिन, पुत्री, वृद्धा तथा मूक, लूली, लंगड़ी, अंधी, कानी, बहरी आदि अंगभंगयुक्त कुरूप, काष्ठादि में चित्रित स्त्रियों तथा निर्वस्त्र सती भी हो तो उससे सदा दूर रहना और डरना चाहिए।[७] क्योंकि स्त्री का रूप निरपेक्ष होता है[८] अर्थात् माता, बहिन, लूली-लंगड़ी आदि किसी भी रूप में

---

१. मूलाचार १०।६२.
२. भगवती आराधना गाथा ३३४, ३३८.
३. मूलाचार १०।६३.
४. कण्णं विधवं अन्तेउरियं तह सइरिणी सलिंगं वा।
अचिरेणल्लियमाणो अववादं तत्थ पप्पोदि ॥ वही ४।१८२.
५. गच्छाचारपइन्ना ६८,
६. हवदि य चित्तक्खोमो पञ्चयभावेण जीवस्स। मूलाचार १०।९९.
७. वही १०।९९१, १०२, ९९
८. .....इत्थीरूपं णिरावेक्खं—वही १०।१०१,

हो आखिर वह है स्त्री । कामान्ध व्यक्ति को उनमें कोई भी अन्तर नजर नहीं आता । अतः स्त्री को प्रज्वलित अग्नि के सदृश तथा पुरुष को घी से भरे हुए घड़े के सदृश कहा है । इस अवस्था में जो भी पुरुष स्त्री के संसर्ग में आते हैं वे (घी की तरह) पिघलकर या जलकर नष्ट हो जाते हैं और जो इनसे बचकर चलते हैं वे कल्याण को प्राप्त करते हैं ।[1]

आर्यिकाओं के गणधर:

आर्यिकाओं की दीक्षा, शंका-समाधान, शास्त्राध्ययन आदि कार्यों के लिए श्रमणों के सम्पर्क में आना भी आवश्यक होता है । श्रमण संघ की इस व्यवस्था के अनुसार साधारण श्रमणों की अकेले आर्यिकाओं से बातचीत आदि का निषेध है । आर्यिकाओं को प्रतिक्रमणादि विधि सम्पन्न कराने के लिए गणधर मुनि की व्यवस्था का विधान है ।

आर्यिकाओं के गणधर को निम्नलिखित गुणों से सम्पन्न माना गया है । प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, संविग्नी (धर्म और धर्मफल में अतिशय उत्साह वाला), अवद्य (पाप) भीरू, परिशुद्ध, (शुद्ध आचरण वाले), संग्रह (दीक्षा, उपदेश आदि द्वारा शिष्यों के ग्रहण-संग्रह) और अनुग्रह में कुशल, सतत् सारक्षण (पाप-क्रियाओं से सर्वथा निवृत्ति) से युक्त, गंभीर, दुर्द्धष (स्थिर वित्त एवं निर्भय अन्तःकरण युक्त), मितभाषी, अल्पकौतुकयुक्त, चिरप्रव्रजित और गृहीतार्थ (तत्त्वों के ज्ञाता) आदि गुणों से युक्त आर्यिकाओं के मर्यादा उपदेशक गणधर (आचार्य) होते हैं ।[2] इन गुणों से युक्त श्रमण तो अपने आप में पूर्णत्व को प्राप्त करने वाला होता हैं और यह तो श्रमणत्व की कसौटी भी है । ऐसे ही गणधर आर्यिकाओं को आदर्श रूप में प्रतिक्रमणादि विधि सम्पन्न करा सकते हैं । उपर्युक्त गुणों से रहित श्रमण यदि गणधरत्व धारण करके आर्यिकाओं को प्रतिक्रमण एवं प्रायश्चित्तादि देता है तब उसके गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थ—इन चार कालों की विराधना होती है । अथवा छेद, मूल, परिहार और पारंचिक—ये चार प्रायश्चित्त लेने पड़ते हैं । साथ ही ऋषिकुल रूप गच्छ या संघ, कुल, श्रावक एवं मिथ्यादृष्टि आदि इन सबको विराधना हो जाती है । अर्थात् गुणशून्य आचार्य यदि आर्यिकाओं का पोषण करते हैं तो व्यवस्था विगड़

---

१. घिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी बलंत अग्निसमा ।
तो महिलेयं दुक्का णट्ठा परिसा सिवंगयाइयरे ।। मूलाचार १०।१००.

२. मूलाचार ४।१८३, १८४, बृहत्कल्प भाष्य २०५०.

जाने से संघ के साधु उनकी आज्ञा पालन नहीं करेंगे । इससे संघ का विनाश हो सकता है ।[1]

आचार्य वट्टकेर ने थोड़ा ही कहकर विश्रान्ति लेते हुए कहा है कि ज्यादा कहने से क्या लाभ ? उपर्युक्त गुणों से युक्त गणधर अपनी इच्छा की अनुकूलता-वश आवश्यकतानुसार उपयुक्त व्यवहार सभी आर्यिकाओं और शेष स्वगणस्थ श्रमणों के प्रति कर सकता है ।[2]

आर्यिका संघ :

जैन साहित्य के अन्तर्गत जब हम चौबीस तीर्थंकरों के चरित सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं तो ज्ञात होता है कि प्रत्येक तीर्थंकर के शासन काल में चतुर्विध श्रमण संघ में आर्यिकाओं की काफी संख्या रही है । आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की ब्राह्मी और सुन्दरी इन दोनों पुत्रियों के दीक्षित होकर आर्यिका होने के उल्लेख मिलते हैं । आर्यिका संघ आचार्य के नेतृत्व में गणिनी (प्रधान) आर्यिका के संरक्षण में प्रव्रजित होता है । श्रमण के दस स्थितिकल्पों में ज्येष्ठ नामक स्थितिकल्प में बताया गया है कि यद्यपि आर्यिका श्रमण की अपेक्षा पद में लघु होती है और आचार्य (गणधर) द्वारा ही आर्यिकाओं को दीक्षा का विधान है किन्तु उनके गणधर अनेक गुणों से युक्त होते थे ।[3] और ऐसे ही गणधर आर्यिका संघ का पूरा ध्यान रखते थे । आर्यिका द्वारा किसी अन्य आर्यिका या मुनि आदि की दीक्षा का उल्लेख मेरी दृष्टि में नहीं आया । बौद्ध परम्परा में भिक्षुणीसंघ भिक्षु संघ के अधीन रहता था । भिक्षुणियों का दर्जा भिक्षुओं से लघु माना जाता था । इस विषय में बहुत से नियम-उपनियम बनाये गये थे जिससे कि भिक्षुणियों के संसर्ग से भिक्षुओं का संघ अपवित्र व दोषपूर्ण न हो जाय ।[4] मूलाचार की एक गाथा से सूचित होता है कि आर्यिका संघ में किसी प्रकार के उपयुक्त व्यवहार आदि विधान की आवश्यकता महसूस हो तो अनेक गुणसम्पन्न गणधर अनुकूलतावश और समय को देखते हुए वैसा कर सकता है ।[5]

---

१. मूलाचार ४।१८५.
२. वही ४।१८६.
३. मूलाचार ४।१८३-१८४, बृहत्कल्प भाष्य २०५०.
४. बुद्ध और बौद्ध धर्म,—(आचार्य चतुरसेन शास्त्री) पृ० ६५.
५. मूलाचार ४।१८६.

गणिनी (प्रधान) आर्यिका :

यद्यपि आर्यिकायें आचार्य के ने त्व में ही अपनी संयम-यात्रा सम्पन्न करती हैं किन्तु श्रमण संघ में जो स्थान आचार्य का होता है वही स्थान आर्यिका संघ में गणिनी (महत्तरिका या प्रधान आर्यिका) का होता है। गच्छाचार पइन्ना के अनुसार शीलवती, सुकृत करने वाली, कुलीन और गम्भीर अन्तःकरण वाली गच्छ में मान्य आर्यिका महत्तरा पद को प्राप्त करती है।[1]

मूलाचारकार ने **गणिनी** आर्यिका के समाचार (आचार-विचार) आदि के विषय का स्वतंत्र उल्लेख नहीं किया। किन्तु आर्यिकाओं के समाचार वर्णन के प्रसंग में प्रमुख आर्यिका का गणिनी या महत्तरिका एवं स्थविरा का वृद्धा आर्यिका के रूप में उल्लेख हैं। प्राचीनकाल में आर्यिका संघ बड़ा ही सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित था। वृद्धा, तरुणी आदि सभी उम्र की आर्यिकायें परस्पर एक दूसरे के सहयोग की भावना के साथ अपने विशुद्ध आचार के पालन, तपश्चरण, शास्त्राध्ययन एवं मननचिन्तन में सदा लीन रहतीं थी। संघ या वसतिका से बाहर अकेले एवं बिना गणिनी की आज्ञा के जाना निषिद्ध था। श्रमणों से धार्मिक कार्य, जैसे दीक्षा शंका-समाधान, वंदना आदि तक ही सीमित था। तात्त्विक या आचार सम्बन्धी शंका आदि होने पर प्रधान आर्यिका को आगे करके या उन्हीं के माध्यम से समाधान प्राप्त करने का विधान है। भिक्षा आदि के समय कम से कम तीन, पाँच अथवा सात आर्यिकायें एक साथ परस्पर रक्षण के भाव से निकलती हैं। इसी तरह वन्दना, प्रतिक्रमण. स्वाध्याय आदि के लिए आचार्य, उपाध्याय तथा श्रमणों के पास जाने या अन्यत्र विहार के समय तीन, पाँच या सात अथवा इससे भी अधिक आर्यिकायें एक साथ मिलकर ईर्यासमितिपूर्वक तथा प्रधान (वृद्धा) आर्यिका का अनुगमन करती हुई जाती हैं। इनकी वसतिका श्रमणों, असंयतजनों एवं दुष्ट तिर्यञ्चों आदि से दूर विशुद्ध संचार वाले स्थान में होने का विधान है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रायः सभी दिगम्बर परम्परा के आचार विषयक ग्रन्थों में आर्यिकाओं की सम्पूर्ण आचार पद्धति का स्वतन्त्र विवेचन नहीं मिलता। मूलाचारकार ने यत्र-तत्र प्रसंगवश ही इनके आचार का कुछ विशेष विवेचन किया है, अन्यथा शेष आचार श्रमणों के समान ही प्रतिपादित समझने को कहा है। यथा—पूर्व में जैसा आचार श्रमणों के विषय में कहा है वैसा ही सम्पूर्ण अहोरात्र सम्बन्धी समाचार (वृक्षमूलयोग आदि को छोड़कर) आर्यिकाओं

---

१. गच्छाचारपइन्ना, गाथा ९४ का विवेचन।

के भी विषय में समझना चाहिए। इसीलिए आर्यिकाओं के आचार का स्वतन्त्र प्रतिपादन आवश्यक नहीं समझा गया।

इस तरह श्रमण संस्कृति में आर्यिका संघ का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि आचार-विचार के पालन, धर्म के संचालन, जैन साहित्य, संस्कृति, एवं कला को विकास की दिशा प्रदान करने, श्रावक-श्राविकाओं तथा सम्पूर्ण भारतीय समाज को नैतिक एवं उच्च आदर्शमय जीवन की आंतरिक प्रेरणा देने में आर्यिकाओं की सदा अहं भूमिका रही है। इसका एक सुव्यवस्थित रूप हमारे समक्ष उपस्थित होता है। ये सभी एक साथ रहकर संयम और चारित्र की आराधना में सतत् तत्पर रहती हैं। आर्यिका संघ में एक प्रधान आर्यिका गणिनी (महत्तरिका) के पद का विधान होता है, जो आर्यिका संघ का सुचारु रूप से संचालन आचार्य के नेतृत्व में करती हैं।

बौद्ध भिक्षुणी संघ—बौद्ध परम्परा के अनुसार भिक्षुणी-संघ में भी अनेक पदों की व्यवस्था थी तथा उनके आचरण सम्बन्धी नियमों का विधान भिक्षुओं के सदृश था। जब भ० बुद्ध ने भिक्षुणी संघ की स्थापना की तब निम्न-लिखित आठ गुरु-धर्म भिक्षुणी संघ के लिए स्थापित किये थे जो इस प्रकार हैं—१–सौ वर्ष की उपसम्पदा पाई हुई भिक्षुणी को भी उसी संघ के सम्पन्न भिक्षु के लिए अभिवादन, प्रत्युत्थान, अंजलि जोड़ना, समीचीन कर्म करना चाहिए। २–जहाँ भिक्षु न हों, ऐसे स्थान में वर्षावास नहीं करना चाहिए। ३–प्रति आधे मास भिक्षुणी को भिक्षु संघ से पर्येषण करना चाहिए। ४–वर्षावास कर चुकने पर भिक्षुओं को दोनों संघों में देखें, सुने जाने वाले तीनों स्थानों से प्रवारणा करनी चाहिए। ५–जिस भिक्षुणी ने गुरु धर्मों को स्वीकार कर लिया है उसे दोनों संघों में मानना चाहिए। ६–किसी प्रकार की भिक्षुणी भिक्षु को गाली आदि न दें। ७–भिक्षुओं से भिक्षुणियों को बात नहीं करनी चाहिए। ८–भिक्षुओं को उन्हें उपदेश करने का अधिकार है। इन प्रधान नियमों के अलावा भिक्षुणियों के दैनिक जीवन के लिए अनेक साधारण नियम थे।[1]

इस प्रकार बौद्ध भिक्षुणी संघ के सामान्य नियमों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि जैन आर्यिका संघ के सामान्य नियमों तथा बौद्ध भिक्षुणी संघ के सामान्य नियमों में अनेक प्रकार से समानता दिखलाई देती है।

●

१. पालि साहित्य का इतिहास (भरत सिंह उपाध्याय) पृ० ३२१.

कुछ प्रमुख प्रकाशन

जैन साहित्य का वृहद् इतिहास (भाग १ से ७ तक)		२९०.००
	भाग १ और २ प्रेस में	
यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन	डा० गोकुलचन्द्र जैन	३०.००
उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन	डा० सुदर्शनलाल जैन	४०.००
जैन धर्म में अहिंसा	डा० वशिष्ठनारायण सिन्हा	३०.००
जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन	डा० अर्हत्दास वण्डोवा दिगे	३०.००
अपभ्रंश कथाकाव्य और हिन्दी प्रेमाख्यानक	डा० प्रेमचन्द्र जैन	३०.००
जैन प्रतिमा विज्ञान	डा० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी	१२०.००
आनन्दघन का रहस्यवाद	साध्वी श्री सुदर्शना श्री जी	३५.००
जैन दर्शन में आत्मविचार	डा० लालचन्द जैन	५०.००
जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान	डा० कमलेश कुमार जैन	५०.००
वज्जालग्गं (हिन्दी अनुवाद सहित)	श्री विश्वनाथ पाठक	८० ००
तत्त्वार्थसूत्र (विवेचन सहित)	पं० सुखलाल संघवी	४०.००
खजुराहो के जैन मन्दिरों की मूर्तिकला	श्री रत्नेशकुमार वर्मा	२५.००
प्राकृत दीपिका	डा० सुदर्शनलाल जैन	२५.००
जैन आचार	डा० मोहनलाल मेहता	२५ ००
जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ	डा० अरुण प्रताप सिंह	८०.००
आचारांगसूत्र : एक अध्ययन	डा० परमेष्ठीदास जैन	४०.००
अर्हत्-पार्श्व और उनकी परम्परा	प्रो० सागरमल जैन	१५.००
धर्म का मर्म	प्रो० सागरमल जैन	१५ ००
मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन	डा० फूलचन्द जैन प्रेमी	६०.००
पं० बेचरदास दोशी स्मृति ग्रन्थ-सम्पादक :	प्रो० मधुसूदन ढाकी प्रो० सागरमल जैन	२००-००
लाला हरजस राय स्मृति ग्रन्थ-सम्पादक :	प्रो	

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शो

आई. टी. आई. रोड, वा

Library IIAS, Shimla
H 294.806 P 916 J
00094576